

वैदिक चिकित्सा

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

साहित्य-याचस्वति, गीताज्ञाता, अभ्युदय-स्वाध्याय मंडल

स्वाध्याय-मंडल, पारडी

प्रकाशक : वसन्त श्री. सातवलेकर, बी. ए

स्वाध्याय मंडल, नानन्दाग्रम, पारडी (सुरत)



चतुर्थवार

संवत् २००६, सन १९४९

भारत मुद्रणालय, नानन्दाग्रम, पारडी, (सुरत)

ॐ

वैदिक चिकित्सा

वेदमें अनेक प्रकारकी, चिकित्सा-पद्धतियाँ वर्णन की हैं। 'किसी चिकित्सा पद्धतिका वर्णन विस्तारपूर्वक है और किसीका संक्षेपसे है। इन सब चिकित्सापद्धतियोंको एक स्थानपर संगृहीत करना, उनका विचार और मनन करके अनुभव लेना और उनका सार्वत्रिक प्रचार करना, उत्तम ज्ञानी वैद्यकाही कार्य है। किसी स्थानपर वेदकी परिभाषा साधारण मनुष्यके समझमें नहीं आती, उसका प्रकाश ज्ञानी वैद्यके अंतःकरणमें ही होना संभव है। इसलिये विचारी वैद्यको इस वैदिक चिकित्सा पद्धतिका अवश्यही मनन करना चाहिए।

वेदकी विविध चिकित्सा-पद्धतियोंका सूक्ष्म विचार करनेसे पता लगता है कि वेद इन चिकित्सा-पद्धतियोंद्वारा मनुष्यको स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वतक ले जा रहा है। सबसे धर्मका यही मुख्य अभीष्ट है कि वह मनुष्योंको स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म शक्तियोंके विषयमें अधिक प्रेम उत्पन्न करे। स्थूल पदार्थों और शक्तियोंका ज्ञान मनुष्यको स्थूल दृष्टिसे होता ही रहता है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। साधारणतः मनुष्यकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष वस्तु और दृश्यमें रमती है, विशेष कारणके बिना मनुष्य अप्रत्यक्ष, अग्न्यक्त और अदृश्यके पीछे नहीं दौड़ना चाहता। जो मनुष्य विचारकी भाँतिसे दृष्टिका

निरिक्षण अहर्निश करते रहते हैं, उनको इस दृश्य स्थूल जगत्के परे एक अदृश्य सूक्ष्म तत्त्व दिखाई देता है। जब उनको उस तत्त्वका साक्षात्कार वैसाही प्रत्यक्ष होने लगता है कि जैसा साधारण मनुष्य मात्रको, इस दृश्य जगत्का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, तब उनकी भक्ति स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मपर अधिक दृढ़ होती है, क्योंकि सूक्ष्मका सामर्थ्य स्थूलकी अपेक्षा कई गुणा अधिक है। यही बात विविध चिकित्सा पद्धतियोंमें भी है। प्रथम अवस्थामें मनुष्योंकी भक्ति औषधिवनस्पतियों, दवाइयों, गोदियों आदिपर विशेष रहती है। यह बिल्कुल स्थूलकी भक्ति है। इस कारण जो वैद्य मनकी चिकित्सा करनेके बिना ही शरीरमें दवाइयों ठोस देते हैं वे स्थूल दृष्टिके वैद्य होते हैं। मनके आधीन ही सब शरीर होता है। जबतक मन कमजोर न होगा तबतक कोई भीमारी मनुष्यको हो ही नहीं सकती। इसलिये हरएक रोगीके मनकी चिकित्सा प्रथम होना आवश्यक है। यह बात कई सूक्ष्मदर्शी अमेरिकन तत्वान्वेपियोंके ध्यानमें आ चुकी है, उनमेंसे एक कहता है कि—In the heroic days of the Veda-writers the physician of the body was also the physician of the mind (Dr. Axel Emil Gibson's Health culture VOL XXI, NO, V, May 1920)

“ वेदके शौर्य-वीर्य युक्त भोजस्वी समयमें शरीरका जो वैद्य होता था, वह मनका भी चिकित्सक हुआ करता था।” यह म० गिब्सन महोदयका कथन बिल्कुल सत्य है। इसमें आश्चर्यकी बात इतनी ही है कि जो बात म० गिब्सनको विदित होगई, वह अबतक यहांके हिंदी अथवा आर्यदेशीय वैद्यों और हकीमोंको विदित नहीं हुई !!

वेद यद्यपि औषधि-चिकित्सा यत्न रहा है, तथापि उसका मन्त्र आकर्षण सूक्ष्म मानस चिकित्सापर ही हो रहा है। जो मन्त्र पुरुष इन वेदमन्त्रोंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे वे उसी समय जान संकते हैं कि वेदका आकर्षण कितना प्रबल है। इस बातकोही इस लेखमें स्पष्ट करना है, प्रथमतः वैद्यके विषयमें निम्न मंत्र देखनेयोग्य है—

(१) दिव्य वैद्य ।

यत्रौषधीः समग्मते राजानः समितामिव ।

विप्रः स उच्यते भिषग्, रक्षोहाऽमीव चातनः ॥

(ऋ. १०।१७।६)

अर्थ—जिम प्रकार राजा लोग अथवा क्षत्रिय (समितां इव) सभामें एकत्रित होते हैं, उस प्रकार (यत्र) जहां औषधियां (सं अग्मते) इकट्ठी होती हैं उस (वि-प्रः) विशेष ज्ञानी मनुष्यको ही (भिषक्) वैद्य कहते हैं। वह ही (रक्षो-हा) राक्षसोंका हनन करनेवाला और (अमीव-चातनः) रोग दूर करनेवाला कहा जाता है।

इस मंत्रमें वैद्यका लक्षण बताया है—(१) संपूर्ण औषधियां अपने पास ठीक प्रकार रखनेवाला, (२) विशेष प्रबुद्ध अर्थात् अपने शास्त्रका सागोरांग जिसने अध्ययन किया है, (३) जो युक्ति और योजनासे (भिषज्यति) रोग दूर कर सकता है, (४) जो राक्षसोंका नाश कर सकता है और (५) जो रोगोंको मूलसे अर्थात् जड़से (चातनः) उखाड़ देता है। ये वैद्यके पांच लक्षण उक्त मंत्रमें कहे हैं। “राक्षसों” के विषयमें इतना ही यहां कहना है, कि ‘रक्ष’, राक्षस, असुर’ आदि शब्द विशेष अर्थमें वैद्यशास्त्रमें प्रयुक्त होते हैं। ये सजीव प्राणधारी सूक्ष्म कीटजीव हैं कि जो मनुष्यके आंखोंसे भी दिखाई नहीं देते। शतपथमें इनके विषयमें कहा है कि—

तदवधुनोति । अवधूत रक्षः । अवधूता अरातयः

इति; तन्नाम्ना एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥

(शत. भा १।१।४)

“वह चर्मको शटक देता है और कहता है कि राक्षसोंका नाश होगया, असुरोंका नाश हुआ। इस प्रकार विनाशक राक्षसोंका संहार होता है।”

अर्थात् चर्म झटकनेसे उसपर चिपके हुए राक्षस नीचे गिरते हैं और उनका नाश होता है । राक्षस चमड़ेपर चिपक जाते हैं, वे मनुष्यके आंखस नहीं दिखाई देते, और झटकनेसे दूर होते हैं, इतने सूक्ष्म ये राक्षस हैं । सूर्य अस्त होनेपर इनको बल आता है, अंधेरेमें ये प्रबल होते हैं और सूर्य-किरणोंसे इनका नाश होता है । ये नाना प्रकारके रोग उत्पन्न करते हैं और मनुष्यों तथा अन्य प्राणियोंको सताते हैं । यह राक्षसोंका स्वरूप यहां ध्यानमें धरना चाहिए । बड़े शरीरवाले जो राक्षस हैं वे भिन्न हैं । स्वतंत्र निबंध द्वारा राक्षसोंके स्वरूपका वर्णन किसी अन्य समय किया जायगा । यहाँके प्रकरणमें जो राक्षसोंका सूक्ष्म स्वरूप अभीष्ट है, उसका सारांशसे वर्णन ऊपर किया है, उसको पाठक स्मरण रखें । इस प्रकारके राक्षसोंका औषधि प्रयोग आदि उपायोंके द्वारा नाश करना वैद्यका कार्य है । अस्तु । इस प्रकार वैद्यका लक्षण वेदमें कहा है । अब इस मंत्रके साथ निम्न मंत्र देखिए—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।

अर्होऽथ सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो

अधराचीः परा सुव ॥

(वा. य. १६।५)

अर्थ—सब (अ-हीन्) कम न होने अर्थात् घटनेवाले रोग बीजोंका (जम्भयन्) नष्ट भ्रष्ट करनेवाला सब (यातु-धान्यः) राक्षसोंको (अधराचीः) नीचेकी ओरसे जो (परा सुव) निकासता है वह (अधिवक्ता) उपदेशक पहिला दिव्य वैद्य (अधि अवोचत्) कहता है अथवा हम सबको बचाता है ।

इस मंत्रमें वैद्यके लक्षण कहे हैं— (१) रोग-बीजोंका नाश करनेवाला, (२) राक्षसोंका संहार करनेवाला, (३) योग्य मार्गका उपदेश करनेवाला और (४) बचानेवाला वैद्य होता है । इस मंत्रमें “ अ-हि ” शब्द रोगबीजोंका नाशक आया है । (हि) कम (अ) न होनेवाला

रोगबीज होता है; प्रारम्भमें छोटासा दिखाई देता है, परंतु उदासीन रहनेपर वह बढ़ने लगता है, फैलता है और सब शरीरभर व्यापता है। “यातु-धान्यः” शब्द द्वारा रोगोंका दूसरा लक्षण कहा है। जिसमें धन्यताके दूर होनेका भाव है। यह नाम राक्षसोंके लिये वेदमें आता है। जब ये सूक्ष्म राक्षस शरीरमें प्रविष्ट होते हैं तब शरीरका उत्साह और आरोग्य अर्थात् धन्यपन नष्ट हो जाता है। इन राक्षसों और रोग बीजोंको नीचेके भागसे दूर करनेका कार्य वैद्य करता है। अर्थात् वैद्य विरेचनादि द्वारा राक्षसोंको शरीरसे निकाश देता है। ये दो मंत्र वैद्यका लक्षण बता रहे हैं।

इस मंत्रमें “दैव्यः भिषक्” शब्द है। ‘दैव्य वैद्य’ अर्थात् ‘आत्मा’ ही वैद्य है, वास्तवमें सच्चा वैद्य आत्मा ही है, ऐसा इस मंत्रद्वारा सूचित किया है। यह मंत्र रुद्र सूक्तमें है और यहां “दैव्य, भिषक्” शब्द ‘रुद्र’ के लिये प्रयुक्त हुए हैं। रुद्रका अर्थ ‘वैद्य, आत्मा, परमात्मा’ है। इसकी विस्तृत व्याख्या (१) रुद्र देवताका परिचय और (२) ऋग्वेदमें रुद्रदेवता इन दो पुस्तकोंके द्वारा की है। जो पाठक विस्तारपूर्वक इस विषयको देखना चाहें उन पुस्तकोंमें देख सकते हैं। वैद्य शब्दके नाम जीवात्मा और परमात्मवाचक उक्त मंत्रमें और सूक्तमें दिये हैं, इससे सूचित होता है कि शरीरमें सच्चा वैद्य जीवात्मा है और जगत्में परमात्मा है। शरीरकी नीरोगता संपादन करनेका कार्य जीवात्मा कर रहा है, यह सूचना वेद क्यों दे रहा है? इस बातकी ओर पाठकोंका चित्त आकर्षित होना आवश्यक है।

वैद्यके औपध रोगीका आत्मिक बल हट जानेके पश्चात् कोई सहायता नहीं करते, और जिसमें आत्मिक बलकी तीव्रता होती है वह बिना औपधीकी सहायताके, अपने मन-शक्तिद्वाराही रोगोंको हटा सकता है। स्थूलसे सूक्ष्मतक ले जानेकी वेदकी यही खूबी है; वैद्यका लक्षण कहते हुए वेद बता रहा है कि “आत्मा” ही सच्चा वैद्य है। जगत्के वैद्य

उसके सम्मुख कुछ भी नहीं है। अर्थात् वैदिक धर्मों मनुष्योंको उचित है कि वे योगसाधनादि द्वारा अपने मानसिक और आत्मिक शक्तियों बढ़ावें और इसी सच्चे दिव्य वैद्यसे अपने तथा दूसरोंके रोग दूर करें।

परावलंबिताही दुःख है। दूसरेपर विश्वास रखकर बैठना, दूसरेकी सहायतासे स्वसंरक्षण करनेका धन करना, दुःखकारक ही है। यह सिद्धांत आप व्यक्ति, राष्ट्र और जगत्में सर्वत्र देख सकते हैं। स्वावलंबन ही सुख है। अपनी धारणाशक्तिके स्वयं स्थिर रहना सुखका साधन है। जबतक वैद्यकी औपधियोंपरही रोगीका विश्वास रहता है, तबतक रोगीको दुःख भोगना आवश्यक ही है। परंतु जब उस रोगीको पता लग जायगा, “ कि मैं स्वयं आत्मरूपसे दिव्य वैद्य हूं और सब औपधियोंकी संपूर्ण शक्तियां मेरे मनमें सदाही सिद्ध हैं और मैं अपनी इच्छा-शक्तिके बलसे अपने तथा अन्योके रोग हटा सकता हूं, तबही सुखके लिये वह अधिकारी होता है ” वही स्वातंत्र्य और स्वाधीनता है वेदको अभीष्ट है कि सब लोक इस शक्तिको अपने अंदर विकसित करें, इसलिये वेद अपने मंत्रों द्वारा स्थूल शक्तिका वर्णन करता हुआ एकदम सूक्ष्म शक्तियोंतक पाठकोंको पहुंचा देता है। यह बात हमने वैद्यके लक्षणोंमें सूक्ष्मरूपसे बताया है। अब प्रकृत निबंधका विषय देखते हैं।

(२) औपाध-चिकित्सा ।

औपधियोंके उपयोगसे रोग दूर करनेका नाम “ औपधि-चिकित्सा ” है। इस विषयके अनेक मंत्र वेदमें हैं। संपूर्ण मंत्र इस छोटेसे निबंधमें दिये नहीं जा सकते। सारांशरूपसेही इस औपधि-चिकित्साका यहां स्वरूप बताना है। प्रथम औपधियोंकी उत्पत्तिके विषयमें वेद कहता है—

या औपधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।

मने नु यदृणामहं शतं धामानि सप्त ध ॥

अर्थ—जो औषधी वनस्पतियाँ देवोंमें तीन युग पाँहके उत्पन्न हो गई थीं, वन (वृक्ष) भरण पोषण करनेवाली औषधियोंके सौ और सात (धामानि) स्थान अथवा जातियाँ हैं ऐसा मे मानता हूँ ।

इस भूमंडलपर प्रथम औषधियाँ उत्पन्न हो गई थीं और तीन युग व्यतीत होनेके नंतर मनुष्योंकी उत्पत्ति हो गई । (१) वनस्पति युग, (२) जलजंतु-युग, (३) सर्प युग, (४) पक्षु युग और (५) मनुष्य युग यह सृष्टिक्रम है । इन औषधियोंके एक सौ सात वर्ग हैं । कई लोग ' सप्त शतं धामानि ' का अर्थ सात सौ धाम अथवा वर्ग समझते हैं और कई लोग ' शतं धामानि सप्त च ' ऐसा वाक्य मानकर ' सौ औषु सात धाम ' मानते हैं । इसका विचार चतुर वैद्योंको करना योग्य है । अस्तु । इन औषधियोंके विषयमें वेद कदता है—

औषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप भुवे ॥

(ऋ० १०।१७।४)

“ औषधियाँ सत्त्वी (मातरः) माताएं हैं और वे (देवी) देवियाँ हैं । मान्य करनेवालों अथवा हित करनेवालों माताएं होती हैं और देवकी शक्ति धारण करनेवाली देवियाँ होती हैं ।

“ देवीः औषधीः ” इस शब्द प्रयोगद्वारा सूचित किया जा रहा है कि औषधि वनस्पतियोंमें जो दोष दूर करनेकी शक्ति है वह देव की, अर्थात् ईश्वरकी किंवा परमात्माकी है । सर्वव्यापक शक्ति सब विश्वमें व्याप रही है । अग्निमें प्रकाश, जलमें शीतता, पृथ्वीमें धारणाशक्ति आदि अनंत गुण हैं, वे परमात्मासे प्राप्त हो गये हैं, इसी प्रकार औषधियोंका रोग दूर करनेका गुण परमात्माका है । पूर्व स्थलमें “ दिव्य वैद्य ” एकही परमात्मा है, यह बात स्पष्ट कर दी है, अब यहाँ औषधियाँ भी परमात्माके गुण धारण करनेसे गुणी बन गई हैं ऐसा ध्वनित किया है । “ आत्मानं वैद्यं और दवा एकही हो जाती है ” यह बात पाठक स्वयं जानलेही

होंगे । इस विषयमें यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । औषधियोंकी प्रतिज्ञा निम्न मंत्रमें कही है—

औषधयः संवदन्ते सोमेन सह राक्ष ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥

(ऋ० १०।१५।२२)

अर्थ—औषधियाँ सोम राजाके साथ बोलती हैं कि, हे राजन् (यस्मै) जिस रोगीके लिये (ब्राह्मणः) ब्रह्मका ज्ञान धारण करनेवाला वैद्य हमारी योजना करता है, (तं) उस रोगीको रोगसे हम पार कर देते हैं ।

इस मंत्रमें वैद्यका एक मुख्य लक्षण बताया है, वह यह है कि “ वैद्य सच्चा ब्राह्मण होना चाहिए, अर्थात् ब्रह्मका ज्ञान वैद्यको चाहिए । ” आत्मज्ञानी वद्य चाहिए । आत्मा, बुद्धि, मन आदि सूक्ष्म तत्त्वोंके गुणधर्म जाननेवालाही वैद्य बने । अन्य धनार्थी लोग वैद्यका धंदा न करें । आत्मज्ञानी सात्त्विक वृत्तिवालाही वैद्य क्यों होना चाहिए, इस बातका अधिक वर्णन करनेकी जरूरत यहाँ नहीं है, क्योंकि आजकलके जमानेमें वैद्योंके जालसे क्वाचित् कोई पुरुषही बच सकता है । वैद्यका धंधा वास्तवमें दैवी धंधा है, परंतु लालचके कारण अन्य धंधोंके समान यह धंधा भी राक्षसी बनाया गया है । आत्मज्ञानी वैद्य आजकल किसी पावित्र्य भूमिमें होगा तो होगा ।

इस मंत्रमें औषधियोंके सोम राजाका नाम आगया है । सोमका अर्थ सोमवलि, चंद्र और जीवात्मा है । चंद्रकी सोलह कलाएं होती हैं, जीव पौडश—कल है ही, इसीको “ पौडशी इंद्र ” वेदमें भी कहा है । सोम-घट्टीका भी शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षमें क्रमशः वृद्धि और क्षय होता है ऐसा कहते हैं, इस विषयमें हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, क्योंकि आजकल बसली सोमवल्ली कहीं भी उपलब्ध नहीं है । परंतु चंद्रके साथ सोमका संबंध लगाया गया है । इसलिये सोमवल्लिको भी १६ कलाएं

हाना आवश्यक है ऐसा तर्क होता है । संशोधक वैद्य इस विषयमें विचार करें ।

यहाँ इतनाही बताना है कि औषधिवाचक सोमशब्द आत्माका वाचक ही नेसे स्थूल औषधिक नामसे सूक्ष्म आत्मतत्त्व यहाँ सूचित किया है । पाठक यहाँ देख सकते हैं कि किस प्रकार वेद हर एक बातमें पाठकोंको सूक्ष्म तत्त्वके पास खींच रहा है । अब वेदमें कही हुई औषधियाँ देखिए—

पिप्पली क्षितभेषजी उतातिविद्धभेषजी ।

तां देवाः समकल्पयन् इयं जीवितया अलम् ॥

(अथर्व० १।१०९।१)

अथ—पिप्पली नामक औषधी क्षित और अतिविद्ध रोगीके लिये अत्यंत उपयोगी है । यह एकही औषधी (जीवितयै) जीवित रहनेके लिये (अलं) पर्याप्त है, ऐसी देवोंने कल्पना की है ।

जिस रोगमें मनुष्य पागल सा बन जाता है उसको क्षित कहते हैं और रोगसे अत्यंत घेरे हुए बीमारका नाम है अतिविद्ध । इनके लिये पिप्पली औषधी उत्तम है, इतनाही नहीं परंतु प्राणिमात्रके जीवनके लिये अर्थात् संपूर्ण आरोग्य प्राप्त करनेके लिये यह एकही औषधि पर्याप्त है । तथा—

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्धता ।

इदमू पु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥

(अथर्व० १।२४।४)

अर्थ—श्यामा नामक वनस्पति जो पृथ्वीके ऊपर उगती है वह शरीरके रंगको ठीक करती है । इस वनस्पतिसे (पुन) फिर शरीरके रूप ठीक बन जाते हैं ।

शरीरपर जो खेत कुटके घन्ने आते हैं, तथा जो अन्य प्रकारके कुटसे शरीर विरूप हो जाता है, उस बीमारीसे श्यामा औषधि बचाती है और

पुनः पूषवंसु सुंदर-रूप बनाती है। इस प्रकार कई औषधियोंका वर्णन वेदमें है। यहां केवल सूचना मात्र बताना है इसलिये इतनाही पर्याप्त है। औषधियां न होनेपर बड़ेसे बड़ा वैद्य भी कुछ कर नहीं सकता, यह इस मार्गमें आपत्ति है। पराधीनतासे दुःख और स्वाधीनतासेही सुख होना है। औषधियोंके अवलंबनरूप पराधीनता इस मार्गमें है, इसलिये वेदने जल-चिकित्सा बता दी है।—

(३) जल-चिकित्सा ।

‘ जल-विद्या ’ नामक लेखमें बताया गया है कि वेदमें जल-चिकित्सा-का क्या प्रकार था। इसलिये उसका पुनः यहां विशेष वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं, तथापि एक दो मंत्र यहां नमूनेके लिये दिये जाते हैं—

अप्सु मे सोमो अग्रधीदन्तर्धिद्वानि मेपजा ।

अग्नि च धिद्वशंभुवमापश्च विद्वभेपजीः ॥

(ऋ० १।२३।२०)

अर्थ—सोमने मुझे कहा कि पानीके अंदर संपूर्ण औषधियां हैं। जलही सब औषधी है और अग्नि सब आरोग्य करनेवाला है।

इस मंत्रमें केवल जलके प्रयोगसे सब रोगोंकी निवृत्ति सूचित की है। इस मंत्रमें ‘ अग्निचिकित्सा ’ की सूचना भी मिलती है। परंतु इस विषयमें यहां लिखनेके लिये हमारे पास स्थानही नहीं है। अग्निचिकित्साके विषयमें किसी अन्य समय विस्तारपूर्वक लिखूंगा। क्योंकि इस एक चिकित्साके कई विभाग हैं।

अप्स्यन्तरमृतं अप्सु मेपजम् । (ऋ० १।२३।१९)

“ पानीमें अमृत है, पानीमें औषध है। ” इस प्रकार उदकका वर्णन वेदमें आ रहा है और जलचिकित्साकी सूचना दे रहा है ॥

आप इद्वा उ मेपजीरापो अर्माधि-चातनीः ।

आपः सर्वस्य मेपजीस्तास्ते कृण्वन्तु मेपजम् ॥

(ऋ० १०।१३०।६)

अर्थ—जलनि सदेह औषधी है, जलनि सशय रोगोंको दूर करनेवाला है, जल सब रोगोंकी एकही दवा है, वह जल तुम्हारे लिये औषध करे।

इस मंत्रमें स्पष्ट कहा है कि संपूर्ण रोग एक ही जलके प्रयोगसे दूर हो सकते हैं। जलका अभिपिचन, 'उपसिचन' यदि विधि अथर्ववेदमें लिखे हैं। विविध प्रकारसे जलका उपयोग करनेकी विधियोंकी सूचना उन शब्दोंसे मिलती है। अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि एकही जल सब रोगोंका शमन करनेके लिये पर्याप्त है। तो अन्य दवाइयोंकी क्या आवश्यकता है? जल सब देशमें सब कालमें मिल सकता है। औषधियां सब कालमें सब देशमें मिल नहीं सकती, इसलिये औषधिचिकित्सककी अपेक्षा जलचिकित्सक अधिक स्वतंत्र है। औषधियां न मिलनेकी कठिनाई जलचिकित्सासे दूर गयी है, इसमें कोई सदेह नहीं। जलचिकित्सामें दवाइयोंकी कटवाइसे सुख खराब होनेका भय नहीं है। औषधिचिकित्सा स्थूल अर्थात् पार्थिव चिकित्सा है, उससे सूक्ष्म जलतत्त्वका आश्रय होनेसे जलचिकित्सासे अनुप्य एक सिद्धी ऊपर पहुंचता है। क्योंकि जिनका विश्वास जलचिकित्सामें होता है उनके मनमें सूक्ष्मत्वकी शक्तिकी स्वरूपता जागृत होती है। आजकल भी कई वैद्य हैं कि जो जलचिकित्साको मानतेही नहों।^१ नि सदेह जलचिकित्सासे उतना पैसा रोगियोंके जेबसे दौंथा नहीं जा सकता, जैसा औषधियोंकी चिकित्सासे खींचा जा सकता है। परंतु यह वैद्योंकी सुभीताकी बात है, रोगियोंकी सुभीता और उन्नति जलचिकित्सासे अधिक होनी है, इसका मूल हेतु इतनाही है कि इसमें सूक्ष्म तत्त्वका आश्रय होता है। जिस प्रमाणसे सूक्ष्म तत्त्वका आश्रय होगा उस प्रमाणसे अधिक हलाति और अधिक सुख अनुप्यको प्राप्त होता है यह वैदिक धर्मका सिद्धांत है।

(४) अग्नि-चिकित्सा।

^१ 'अग्निं च विश्व श-सुख' ऐसा पूर्व स्थलमें कहाही है। (विश्व)

संपूर्ण (शं) शांति और आरोग्य (भुवं) देनेवाला अग्नि है । अर्थात् संपूर्ण दोष अग्नि दूर कर सकता है । राक्षसोंका नाश करना वैद्यका एक कर्तव्य है यह बात पूर्व स्थलमें बताई है । अग्निका नाम भी ' रक्षो-हा ' अर्थात् राक्षसोंका नाश करनेवाला इस अर्थका घोटक है । अग्निद्वारा दूसरी चिकित्सा हवन चिकित्सा है । अग्निचिकित्साका वर्णन विस्तारपूर्वक अन्य निबंधमें करनाही है, इसलिये यहां इतनाही पर्याप्त है ।

(५) हवन-चिकित्सा ।

वेदमें हवनका बड़ा भारी शास्त्र है । यद्यपि इसका पूर्णतया आविष्कार नहीं हुआ है, तथापि जो बातें इस समय सम्मुख आ गई हैं, उससे इतना स्पष्ट होता है, कि हवनसे रोगोंका शमन किया जा सकता है । इस विषयमें इस लेखमें एकही मंत्र देखिए—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय

कमज्ञात-यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ॥ (अथर्व० ३।११।१)

“ हवनके द्वारा अज्ञात रोगसे तथा क्षयरोगसे भी तुमको दीर्घ जीवनके लिये छुड़ाता हूँ ” ।

हवनसे ज्ञात रोग तो दूर होही सकते हैं, परंतु अज्ञात रोग भी दूर हो सकते हैं । जिनका कारण, निदान और चिकित्साकी विधि स्पष्ट विदित होती है उन रोगोंका नाम ' ज्ञात-यक्ष्म ' है, और जिनका निदान और उपशमनका उपाय ज्ञात नहीं है, उनको “ अ-ज्ञात-यक्ष्म ” कहा जाता है । राजयक्ष्मा यह होता है कि जिसको तपेदिक, क्षयरोग आदि नामसे पुकारते हैं वह सब बीमारियोंका राजा है, क्योंकि एक समय जड़-मह पहुंचता है बीमारको लेही जाता है । इस प्रकारके अमानक क्षयरोगकी भी चिकित्सा हवनके द्वारा हासिल है । व अन्य रोग हट जाते हैं ऐसा कहनेकी भी क्या आवश्यकता है ?

अधिकालमें यज्ञबोधमें बहुतही उन्नति हो गई थी। यज्ञसे दृष्टि कराई जाती थी, धान्यमें विशेष सत्व छाया जाता था, नगरों और ग्रहोंका आरोग्य संपादन किया जाता था। वायु शुद्धि और उसकी प्रसन्नता प्राप्त की जाती थी, सुपुत्र उत्पादनके लिये दृष्टिया की जाती थीं। यह तो दैवी भावनाके यज्ञोंका स्वरूप है। राक्षसी भावनाके भी यज्ञ प्रचलित हो गये थे। इन राक्षसी यज्ञोंद्वारा शत्रुके नगरोंमें बीमारियां उत्पन्न की जाती थीं, इनका प्रवर्तन राक्षसोंके पासमे होता था। तात्पर्य हवनसे एक विशेष शक्ति उत्पन्न होती है उसको उन्नतिके कार्यमें तथा विनाशके कार्यमें भी बर्ता जा सकता है। वैदिक वाङ्मयमें यज्ञका सत्य उज्ज्वल स्वरूपही दिखाया है, क्योंकि वैदिक वाङ्मयकी प्रवृत्तिही दैवी है। वैशाख और आसुरी ग्रंथोंमें राजस और तामस घोर हवनोंके विधि लिखे हैं। जिनसे उक्त भवानुक्त परिणाम होते हैं। इनके संपूर्ण विधि इस समय ज्ञात नहीं हैं, परंतु जो थोड़े ज्ञात हुए हैं, उनका वर्णन भी यहाँ नहीं हो सकता। निःसंदेह इसका वर्णन बड़ा मनोरंजक और उपयोगी है, इसलिये किसी अन्य लेखमें इसका शुभ और अशुभ स्वरूप बताया जायेगा।

जिस प्रकार औषधिका योग्य उपयोग करनेसे आरोग्य और नयोग्य प्रकारसे सेवन करनेसे अनारोग्य होता है, ठीक उसी प्रकार सात्विक भेद यज्ञोंके हवनसे आरोग्य बढ़ सकता है और अन्य घोर दृष्टियोंसे व्याधियां भी फैल सकती हैं। भेद दैवी यज्ञोंका वर्णन गोप्य-ब्राह्मण निम्न प्रकार करता है—

भैषज्य-यज्ञा या यते । तस्मात्तुसंधिषु
प्रयुज्यन्ते ॥ ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते ॥

(गोप्य० उ० १।१९)

“ ये औषधियोंकी यज्ञ हैं । इसलिये ऋतुओंकी संधियोंमें यज्ञ किये जाते हैं, क्योंकि ऋतुसंधिमें व्याधि होती है। ”

अस्तु । रोगनिवारण और भारोग्यसंपादन यह स्राविक यज्ञका मुख्य भाग है इसमें कोई सदेह नहीं । इस प्रकार यज्ञचिकित्साका योवासा स्वरूप है । पार्थिव, जल और अग्निसे चिकित्सा इस प्रकार वेदमें आती है । 'आप' शब्दसे जल तत्त्वका जैसा बोध होता है उसी प्रकार न्यापक आत्मतात्वका भी ज्ञान होता है । तथा 'अग्नि' शब्दसे तैजस् तत्वका ज्ञान होता हुआ भी परमात्माका बोध होताही है । इस प्रकार वेद न केवल उच्च तारों द्वारा चिकित्सा बता रहा है, परन्तु हर एक तत्त्ववाचक शब्द द्वारा उस तत्वके नीचे गुप्त रूपसे विद्यमान आत्मतात्वका साक्षात्कार करा रहा है, इस बातको कभी भूलना नहीं चाहिये । अग्निचिकित्सामें, सूर्य भी अग्नितात्व होनेसे इस चिकित्साका भी इस प्रकरणमें विचार करना योग्य है—

(६) सौर-चिकित्सा ।

सूर्यके किरणों द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसका नाम सौर-चिकित्सा है । सूर्यकिरणोंका प्रविष्टता उत्पन्न करनेका धर्म वेदमें "शोचिष् क्ता" शब्द द्वारा कहा है । इसलिये वेद कहता है कि—

न सूर्यस्य सदृशे मा युयोथा ॥ (ऋ० २।३।१)

अर्थात् "सूय प्रकाशसे हमारा कभी बियोग न होवे" क्योंकि सूर्य ही सब प्रकारके दोष दूर करके प्राणियोंकी शुद्धि करता है । यहातक वेद कहता है कि—

सूर्य आत्मा जगत्स्त्वथुपश्च ॥ (ऋ० १।१।५।१)

'सूर्य स्यावर जगत् जगत्का आत्मा है । = प्राणरूपी सूर्य होनेसे यह संपूर्ण आत्माही है । वह नष्ट होनेसे सब प्राणिमात्र नष्ट हो सकते हैं । यही बात प्रभाषनिषद्में कही है—

आदित्यो ह वै प्राण ॥ (प्रश्न० ३० १।५)

यत्स्य प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान्
रादिमपु सनिधत्ते ॥ (प्रश्न० ४० १।६)

“आदित्यही निश्चयसे प्राण है। जब आदित्य प्रकाशमान होता है तब वह सब प्राणोंको अपने किरणोंमें रखता है।” तात्पर्य सूर्यकिरणोंके द्वारा सब जगत्में प्राणतत्त्वका संचार होता है। जहां प्राण पहुंचता है वहांसे मृत्युका दूर होना स्पष्टही है। इसलिये घरोंकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि सूर्यकिरणोंके द्वारा प्राण सब घरकी शुद्धता करके और रहनेके घरोंसे मृत्युको दूर हकाल देवे। रोग उपादक कृमियोंका नाश सूर्यकिरणद्वारा होता है ऐसा भी वेदमें कहा है, वह सब यहा अनुसंधानसे देखनेयोग्य है।

सौरचिकित्साद्वारा योगी लोग बड़ा लाभ उठाते हैं। प्राणायामद्वारा इस प्राणपूर्ण तत्त्व वायुको अंदर लेते और कुम्भकद्वारा प्राणको अपने शरीरमें स्थिर करते हैं। अन्य प्रकार युक्तिप्रयुक्तिसे सूर्यकिरणोंके द्वारा आरोग्य संपादन करना सौरचिकित्सामें हो सकता है।

विविध रंगोंवाले गोवोंके दूधके विविध इष्ट और अनिष्ट परिणाम सौरचिकित्सा किंवा वर्णचिकित्साके साथ मयध रखते हैं। इस विषयमें बहुत लिखा जा सकता है, परंतु विस्तारभयके लिये यहा इतनाही लिख कर अब कमप्राप्त वायुचिकित्साका स्वरूप बताता हू।

(७) वायु-चिकित्सा।

वायुही प्राण बनकर शरीरमें आकर रहा है यह उपनिषदोंका कथन है। वायुमें “अमृतका खजाना” है ऐसा ऋ० १०।१८६ सूक्तमें कहा है। जहां अमृत है वहां रोग नहीं हो सकते, इसलिये अमृतका खजाना लेकर जहां वायु पहुंचता है, वहां नीरोगता प्राप्त हो सकती है। यही वायुचिकित्साका मूल वेदमें है। तथा—

आ घात घाहि मेपज वि घात घाहि यद्रप ।

ह्य हि पिथ्यमेपजो देवानां दूत ईयसे ॥ (ऋ० १०।१३०।३)

“हे वायो! तुम्हारी दवाई के जाओ और यहसि सब दोष दूर करो, क्योंकि तू ही सब औषधियोंसे युक्त है।”

पृथिवी, आप, तेजकी अपेक्षा वायु सूक्ष्म तत्त्व है। इसलिये इससे आरोग्य संपादन करना और रोग दूर करना अन्य प्रकारोंसे श्रेष्ठ है। जल भी प्राप्त करनेके कष्ट हैं। वायु सर्वत्र ही है इसलिये यदि उसको खराब न किया जावे, तो सदा वह अमृत देनेके लिये सिद्ध ही है। योगी लोग प्राणायामद्वारा इसी प्राणवायुसे आरोग्य और दीर्घ आयुष्य संपादन करते हैं। वायुके योग्य उपयोगसे हर एक बीमारी दूर हो सकती है। उसके सेवनकी विधिसे परिचय होना चाहिए। दयालु परमेश्वरने अमृतमय वायु सर्वत्र भरा रखा है, परंतु अज्ञानी मनुष्य फिर भी अनारोग्यमें सड़ते ही हैं!!! यदि मनुष्य प्रतिदिन सौ पचास प्राणायाम विधिपूर्वक करता जायगा तो उसके पास रोग खड़ा भी नहीं होगा। विधि छोड़कर कार्य करनेसेही मनुष्यकी अवनति होती है।

इस प्रकार स्कूल भूतोंके आश्रयसे चिकित्साओंके क्रमपूर्वक प्रकार देखे। वेद किस प्रकार स्कूलसे सूक्ष्म तत्वोंकी शक्तियोंके पास मनुष्योंको लेख रहा है इसका ज्ञान इस विचारमें हो सकता है। अब इससे भी सूक्ष्म तत्वसे जो मानसचिकित्सा होती है, उसका विचार करना है।

(८) मानस-चिकित्सा।

यही सर्वोत्तम चिकित्सा है। वेदने इस चिकित्सापर जितना बल दिया है उतना अन्य चिकित्साओंपर नहीं दिया। इसका कारण स्पष्ट है। इस चिकित्सामें जैसी स्वाधीनता होती है वैसी किसी अन्य चिकित्सामें नहीं हो सकती। औपधिचिकित्सामें औपधियोंका आश्रय करना होता है; जलचिकित्सामें उत्तम जल प्राप्त होना चाहिए, हवन-चिकित्सामें विविध हवन सामग्री इकट्ठी करना आवश्यक है, वायुचिकित्सामें शुद्ध वायुके बिना कार्यभाग नहीं हो सकता, सूर्यके प्रकाशके बिना सौरचिकित्सा अशक्य है, तात्पर्य बाह्य साधनोंसे जो चिकित्सा करनी है उसमें परतन्त्रता अवश्यही है। वेद मनुष्योंको किसी प्रकार परमन्त्र रखना नहीं चाहता। इसलिये इस चिकित्सामें वेदमें मानस-चिकित्सा

घटाई है। इसमें किसी बाह्य साधनोंपर निर्भर होनेकी आवश्यकताही नहीं है। यह चिकित्सा अपने आत्मिक बलसे और मनकी इच्छाशक्तिसे ही होती है। यदि किसी प्रकार रोगीमें आत्मिक बल उत्पन्न हुआ अथवा चिकित्सकने अपनी इच्छा शक्तिद्वारा उसमें बल उत्पन्न किया तो वहाँ ही स्वयं रोगका शमन होने लगता है। वेदमें मनकी शक्ति इसी प्रकार वर्णन की है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं
प्रजासु ॥ यस्मान् ऋते किं चन कर्म कियते
तन्मे मन शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥ येनेदं भूत
भुवनं भविष्यत्पारिगृहीतममृतेन सर्वम् ॥ येन
यज्ञस्तापते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्प-
मस्तु ॥ ४ ॥ सुपारथिरश्वानिब यन्मनुष्याग्ने-
नीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ॥ हृत्प्रतिष्ठं यदजिर
जधिष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ (वा. य. ३४)

इन मंत्रोंमें मनके गुणोंका कथन है। हमको यहां सब गुणोंका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, अपने विषयकी सूचना भिन्न शब्दों द्वारा हो रही है, उनका ही यहां विचार करेंगे—

(१) यत् प्रजासु अंतःअमृतं — जो मन प्राणियोंके अंदर अमृत रूप है। अमृतका सेवन करनेसे सब बीमारिया दूर होती हैं। यदि योगद्वारा इस मनकी शक्तिका विकास हो गया तो आरोग्यके लिये किसी अन्य पदार्थके आश्रयकी आवश्यकता ही नहीं होगी।

(२) यस्मान् ऋते किं चन कर्म न कियते — जिस मनके बिना कोई भी कर्म किया ही नहीं जाता। यहा बाह्य कर्मकी अपेक्षा शरीरके अंतर्गत कर्मोंकी ओर ही पाठक ध्यान दें। हाथ ऊपर नीचे करना, पेटमें पचनका कर्म आदि सब मनकी प्रेरणासे ही हो रहा है। जिस मनकी शक्तिद्वारा चार

पाँच सेर वजनका हाथ जैसा चादिए वैसा घुमाया जाता है, उस मनकी शक्तिसे रोगके थोड़ेसे बीज अपने स्थानसे हिलाये नहीं जायगे, ऐसा कोई भी नहीं कह सकेगा। अपने सब शरीरमें मनकीही शक्ति कार्य कर रही है, परंतु मनुष्य अपनी ही शक्तिसे अपरिचित होनेके कारण अपने स्वास्थ्यके लिये दूसरोंपर निर्भर हो रहा है। वास्तवमें 'दिव्य वैद्य आत्माही है और अमृतरूपी मन उसीके पास है। परंतु अमृतके महासागरमें डूब मरनेवाले मूढ़के समान यह भी अपने पासके अमृतको छोड़कर बाहरके पदार्थ कष्टसे प्राप्त करनेमें आनंद मानता है !!

(१) येन सप्त-होता यज्ञः चायते - जिस मनके द्वारा "सप्तहोता यज्ञ" फैलाया जाता है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात होतागण जिसमें बैठे हैं ऐसा यह पुरपरूपी यज्ञ मनके द्वाराही चलाया जाता है। इस यज्ञमें मन ही ब्रह्मा है और ब्रह्माका काम यही है कि वह यज्ञके दोषोंको दूर करे। यह मनरूपी ब्रह्माका अधिकार ही है। तात्पर्य शरीरके सब दोष मनके द्वारा दूर किये जा सकते हैं। दोष दूर होनेपर कोई रोग रहेगा ही नहीं। जबतक दोष होंगे तबतक ही रोग होते हैं।

(४) सुपारयिः अश्वात् इव - उत्तम सारथी जिस प्रकार घोड़ोंको चलाता है उस प्रकार यह मन मनुष्योंको चलाता है। यह इसकी महती शक्ति है। परंतु मनुष्य अज्ञानके कारण अपनी शक्तिसे ही अपरिचित होगये हैं !! अपने आपको निर्बल माननेमें ही धन्यता मान रहे हैं !! क्या यह सबसे बड़ा आश्चर्य नहीं ?

तात्पर्य मनकी अजब शक्ति है। इसलिये मानस-चिकित्सा ही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सा है। इससे अपने तथा दूसरोंके भी रोग दूर किये जा सकते हैं। हस्तस्पर्शद्वारा रोग दूर करनेका विधान निम्न मंत्रमें है-

हस्ताभ्यां दशशास्त्राभ्यां जिह्वा घ्रातः पुरोगवी ॥

अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि ॥ (क. १०।११०।७)

“दस शाखाएं जिसको हैं ऐसे मेरे दोनों हाथोंसे तुमको स्पर्श करता हूं। ये मेरे हाथ (अनामयित्नुभ्यां) नीरोगता करनेवाले हैं। और साथ ही मैं (वाचः) अपनी वाणीको प्रेरित करता हूं।”

दस अंगुलियां हाथोंकी दस शाखाएं हैं। इनके स्पर्शसे दूसरेके रोग दूर हो सकते हैं। वाणीसे भी साथ साथ रोगीको सूचना देनी चाहिए। मानस-चिकित्साका प्रकार इसमें लिखा है। इस विषयका वर्णन बिस्तार-पूर्वक आगे आ जायगा। यहाँ वेदके विविध चिकित्साओंके प्रकारही केवल बताने थे, सो सारांश रूपसे बताये हैं। वेद किस प्रकार स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वोंतक ले जा रहा है इसका थोड़ासा वर्णन यहाँ किया गया है।

“इस वैदिक मानस-चिकित्साके विषयमें कई छेस लिखने आवश्यक हैं, इसका विशेषतः योगका स्वरूप बतानेके पश्चात् ही इस चिकित्साका वर्णन किया जायगा। आशा है कि पाठक भी इस दृष्टिसे विचार करेंगे और अपने अंदर मानसिक अमरपनकी शक्ति योगद्वारा बढ़ानेका पुरुषार्थ योग साधनद्वारा करेंगे।

ॐ व्यक्तिसमें शांति । राष्ट्रमें शांति । जगत्में शांति ।

वेदमें वैद्यशास्त्र

“ वेद सर्व सत्यविद्याओंका मूल पुस्तक है ” “ वेदमें सर्व विद्याएँ बीजरूपसे मिलती हैं ” “ वेदका पठनपाठन, श्रवणश्रावण करना आर्योंका परम धर्म है ” इत्यादि उपदेश हम ऋषि मुनिसे श्रवण करते आये हैं और उस आप्तवाक्यके अनुसार हमारा विश्वास भी है, परन्तु कौन कौनसे शास्त्र किस किस प्रकारसे वेदमें उपलब्ध होते हैं, इसका निश्चित पता अभीतक लगा नहीं है, तथा इन शास्त्रोंकी खोजमें वैदिक विद्वानोंके परिश्रम भी जैसे होने चाहिये वैसे इस समयतक नहीं हुये हैं यह बड़ी शोककी बात है ।

मेरा परिश्रम वेद विषयमें बहुतही अल्प है । परन्तु जो कुछ परिश्रम वेद विषयमें मैंने किया है उससे मेरा निश्चित मत यह हुआ है, कि वेद विविध ज्ञानका एक भंडार है । इस वेदमें मुख्यतया अध्यात्म-शास्त्र उपलब्ध होता है, तथा इसके साधक कई अन्य शास्त्र प्रतीत होते हैं जिनमें समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, वैद्यशास्त्र, दण्डनीतिशास्त्र, राजाविद्याशास्त्र इ० प्रमुख हैं ।

वैद्यशास्त्रके मंत्रोंका अभ्यास करते करते इस शास्त्रकी एक निश्चित व्यवस्था है, ऐसा मेरे ध्यानमें आने लगा है । परन्तु इसकी पूर्ण व्यवस्था मैंने इस समयतक नहीं की है । इस शास्त्रके थोड़ेसे मंत्र आपके सन्मुख रखना चाहता हूँ जिससे आपके मनमें वैदिक वैद्यशास्त्रका गौरव निःसंदेह आ जायगा ।

मेरा विश्वास है कि जो मंत्र वेदमें वैद्यशास्त्रविषयक आते हैं उन्हीं मंत्रोंके आश्रयपर हमारा आर्य वैद्य-शास्त्र बना हुआ है । अर्थात् आर्य

वैद्यशास्त्रका बीज वेदमंत्रोंमें अवश्य मिलता है। जिसकी मंशतः गवाही सुश्रुतकार देते हैं:—

इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्य

अनुत्पाद्यैव प्रजाः कृतवान् स्वयम्भूः ॥

(ऋ० सुधृत० सूत्र० अ० १)

“ आयुर्वेद अथर्ववेदका उपांग है ” यही उपवेद है। परंतु शोक है कि यह उपवेद इस समय नहीं मिलता है। वेदसे आयुर्वेद नामक उपवेद निर्माण हुआ। इस आयुर्वेदसे प्राचीन वैद्यशास्त्र जो चरक सुश्रुतादि नामसे प्रसिद्ध हैं, उत्पन्न हो गये अर्थात् वेदसे वैद्यशास्त्र निकल आया। वेदमें जो वैद्यशास्त्रका बीज था वही वैद्य ग्रंथोंके रूपमें वृक्षाकार परिणत हो गया है। अस्तु। अब हम प्रस्तुत निबंधका विचार करते हैं। वैद्यशास्त्रके बीजभूत मंत्रोंका विचार करके पहिले वैद्यके लक्षण वेदने कहे हैं यह देखने चाहिये।

यत्रौपधीः समग्मत राजानः समितामिव ।

विप्रः स उच्यते भिषग्वक्षोहाऽभीविचातनः ॥

(ऋ० १०।१७।६)

भावार्थ—“ जिस प्रकार क्षत्रिय युद्धमें एकत्रित होते हैं उस प्रकार जिसके पास सर्व औषधियाँ (रोगोंके साथ होमेवाले युद्धमें) एकत्रित होती हैं। उस विद्वान्का नाम (भिषग्-) वैद्य-होता है, और वही विद्वान् राक्षसों-रोगबीजों-का हनन करनेद्वारा तथा रोगोंका दूर करने-वाला होता है ” इस मंत्रको देखनेसे वैद्यके निम्नलिखित लक्षण प्रतीत होते हैं—

(१) विप्रः (विशेषेण प्राज्ञः)—वैद्य, विद्वान्, ज्ञानसंपन्न, अर्थात् सोमोपांग वैद्यशास्त्र ज्ञानमेवाला होना चाहिये।

(२) औषधिसंग्राहकः तथा औषधियोजकः—रोगनिवारक सम्पूर्ण

औपधियोंका संग्रह करनेवाला तथा उन औपधियोंकी उत्तमतासे योजना करनेवाला ।

(३) रक्षो—दा—(रक्षसां हन्ता) रोगजन्तुओंकी यथोचित परीक्षा करके उनका हनन करनेवाला ।

(४) अमीव—घातनः—(अमीवाः रोगाः तान् घातयति दूरीकरोति) रोगोंको औपधियोजनाके द्वारा दूर करनेवाला ।

इन चार लक्षणोंसे जो युक्त होता है, वह वैद्य कहलाता है—(१) शास्त्रका अभ्यास, (२) औपधि संग्रह, (३) रोग-बीज-दूरीकरण समर्थता (४) तथा रोगविनाश समर्थता—यह चतुर्लक्षण युक्त वैद्य होता है ।

इन लक्षणोंका विचार करनेसे आजकलके इतिहासी वैद्योंके व्यवहारका यथोचित खण्डन हो गया है ! अर्थात् वैद्यका धंदा हाथूकको नहीं करना चाहिये, परन्तु जो उक्त लक्षण युक्त हो वह ही वैद्यक किया करे, अन्य नहीं ।

इस मंत्रसे कितना उत्तम उपदेश मिलता है । यदि लोक इस उपदेशकी ओर ध्यान देंगे तो बहुत लाभ हो सकता है । अब शरीर विज्ञानके विषयमें एक मन्त्र देखिये—

यास्ते शतं धमनयोऽद्गम्यन्तु विष्टिताः ।

तासां ते सर्वासां वयं निर्विपाणि ह्वयामसि ॥

(अथर्व ६।२०।२)

भावार्थ—“ मनुष्यके शरीरमें सैकड़ों नसें तथा नाडियाँ हैं । प्रति अवयवमें इनकी स्थिति है । इन सब धमनियोंसे विषको हम बाहिर निकालेंगे ” ।

इस मन्त्रमें दो बातें स्पष्ट कहीं हैं । (१) एक यह है कि शरीरके

प्रति अवयवमें अनेक नाडियां हैं। तथा (२) दूसरी बात यह है कि उन नाडियोंमें विष संचार होकर नाना व्याधियां होती हैं। इस कारण इन नाडियोंको सदा निर्विष अर्थात् शुद्ध रखना चाहिये। नाडियोंकी निर्विषताके ऊपर मनुष्यका स्वास्थ्य अवलम्बित है, यह बात यहां स्पष्ट प्रतीत होती है। धमनियोंके अन्दर विष संचारित होकर नाना व्याधियां होती हैं उनके कई नाम अगले मन्त्रमें दिये हैं—देखिये—

अंगभेदो अंगज्वरो यच्च ते हृदयामयः ।

यक्ष्मः श्येन इव प्रापत्तस् वाचा साढः परस्तराम् ॥

(अथर्व० ५।३०।९)

भावार्थ—^१ 'अंग' दुखना, (२) शरीरका ज्वर, (३) हृदयकी व्याधा (४) क्षयरोग यह सब व्याधियां एकदम बड़े हो जायगीं, जिस प्रकार श्येन शटपट भागता है।

इस मन्त्रमें चार व्याधियोंका परिगणन किया है। व्याधियोंकी अन्य परिगणना भी अन्य मन्त्रोंमें आगई है।

(१) क्षेत्रिय व्याधिः—जो व्याधि मातापिताके राजबीरोंके साथ संतान-में आते हैं उनको क्षेत्रिय व्याधि बोलते हैं। यह क्षेत्रिय व्याधि बड़े दुस्तर होते हैं। इनका औषधोपचार अथर्ववेदमें बहुत स्थानपर आया है।

(२) निर्ऋतिः—अनियमित वर्तन, बुरा व्यवहार, करनेसे जो व्याधियां उत्पन्न होती हैं उनके निर्ऋति बोलते हैं।

(३) आगः—फैलनेवाली व्याधि।

(४) दुरितम्—(दुः+इत्) सद्गोप पदार्थ शरीरमें प्रविष्ट होनेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं उन व्याधियोंके बीजका नाम दुरित है, इसीको विष भी कहते हैं।

(५) त्रिषं—(त्रि+षं) जिससे शरीरकी समता नष्ट होती है उसको विष कहते हैं, शरीरके अंदर सप्त धातुओंकी साम्यावस्था जिस समय होती

है उस समय उसको आरोग्य कहते हैं, तथा जिस समय प्रतिलोमी पदार्थ अन्दर जाता है और सप्त-धातुओंके अन्दर विषमता उत्पन्न करता है उस समय व्याधि उत्पन्न होते हैं, यह विषमता जिससे होती है उसको विष कहा हुआ है। सूर्य-किरणोंके द्वारा यह विष दूर होता है ऐसा आगामी मंत्रोंमें कहा है—

ये अंगानि मध्यगन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तथ ।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरयोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।

अनूकादर्पणीरुणिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥ २१ ॥

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।

उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशः ॥ २२ ॥

(अथर्व० १।८)

भावार्थ—“ जिससे अवयवोंके अन्दर मद् उत्पन्न होता है और नाना प्रकारके व्याधि होते हैं वह विष होता है। पांव, जानु, श्रोणी, पेट, कमर, मस्तक कपाळ, हृदय तथा अन्य अवयव इनके अन्दर जो विष रहता है उसका नाश उदयको प्राप्त हुआ सूर्य अपने किरणोंसे करता है। अर्थात् प्रातःकालके सूर्यकिरणोंसे अनेक व्याधि नाश होते हैं।

इस मन्त्रमें विषसे व्याधियोंका उत्पन्न होना तथा सूर्यकिरणों द्वारा विषका नाश होना स्पष्ट लिखा है। सूर्यकिरण विष दूर करके आरोग्यका संवर्धन करने वाले हैं। इस कारण सूर्यका नाम “ शोचिष्+केश ” ऐसा वेदमें आया है। जिससे किरणोंका शुद्धता करनेका धर्म स्पष्ट पाया जाता है। सूर्यके विषयमें और देखिये—

अपचितः प्र पतत सुपर्णो यसतेरिव ।

सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा घोऽपोच्छतु ॥ (अथर्व० ६।८३।२)

भावार्थ—“ जिस प्रकार गरुड दौड़ जाता है उसी प्रकार स्तोटक

ग्याधि दूर चली जायगी, इसके लिये सूर्य औषध बनावे तथा चंद्रम^१ अपने प्रकाशसे उसका नाश करे । ”

इस मंत्रमें सूर्य औषध बनाता है, ऐसा स्पष्ट कहा है । सूर्य इस विश्वमें प्राणरूप है और अपने किरणोंके द्वारा सर्व विश्वका स्वास्थ्य उत्तम रखता है । परंतु मनुष्य ऐसे हैं कि वे स्वयं अंधेरे स्थानमें रहकर सूर्यकी प्राणशक्तिके चंचित रहते हैं और अमारोग्यमें फंसते हैं । इस मंत्रसे पता लगता है कि मकान इस प्रकारके बनाने चाहिये कि जिनमें सूर्य-प्रकाश विपुल आवे तथा उनके द्वारा आयुरारोग्यकी वृद्धि प्राप्त होवे ।

सूर्यकिरणों द्वारा जो चिकित्सा होती है वह शिमिस्तान नामसे प्रसिद्ध है । इस शिमिस्तानसे अनेक ग्याधियां दूर होती हैं । अब शिमिचिकित्साको यहां छोड़कर वायु-चिकित्साके विषयमें थोड़ासा देखें—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परायतः ।

दक्षं ते अन्य आ वातु पराऽन्यो वातु यद्रपः ॥१॥

आ वात चाहि भेषजं धि वात चाहि यद्रपः ।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१३७)

भाषार्थ—“ दो वायु हैं । एक समुद्रके ऊपरसे आता है और दूसरा जमीनके ऊपरसे चलता है । जो समुद्रके ऊपरसे जमीनपर आता है वह बलको लाता है । तथा जो जमीनके ऊपरसे आता है वह दोषोंको साथ ले जाता है । बलवान वायु औषधि ले आवे तथा अन्य वायु दोषोंको दूर करे । वायु संपूर्ण औषधियोंका केन्द्र है इस कारण उनको देवदूत कहते हैं । ”

इस मंत्रमें वायुचिकित्साका मूल है । समुद्रके ऊपरसे शुद्ध वायु आता है, वह बल देता है, आरोग्य बढ़ाता है, अर्थात् यह वायु संपूर्ण औषधियोंको अपने साथ लाता है । शुद्ध वायु ऐसाही उत्तम होता है । इसलिये शुद्ध वायुका सेवन करना चाहिये । शरीरोंकी तथा गृहोंकी रचना ऐसी होनी चाहिये कि उसमें ऐसा शुद्ध वायु सदैव आता रहे ।

मनुष्योंके स्थानोंपरसे जो वायु आता है वह नाना प्रकारके रोग बीजोंके साथ लाता है, इस कारण वह लाभदायक नहीं होता है ।

मनुष्यके शरीरमें भी आस तथा उच्छ्वास ऐसे दो वायु कार्य करते हैं । जो शुद्ध वायु अंदर जाता है वह बल उत्पन्न करता है । तथा जो अंदरसे अशुद्ध वायु बाहर निकलता है वह अशुद्धि ले आता है । सब शरीरका स्वास्थ्य इन वायुओंपर अवलंबित है ।

योगशास्त्रान्तर्गत प्राणायामकी क्रिया तथा प्रक्रिया इसी वायुके साथ संबद्ध है । योग्य प्रकारसे प्राणायाम करनेसे अनेक व्याधियाँ दूर होती हैं । यह बात अंतःशुद्धिके विषयमें हुई । बाह्य शरीरके अनेक रोग भी विवक्षित प्रकारके वायु सेवनादिसे ठीक होते हैं । शुद्ध वायु नित्य सेवन करनेवाले महोदयको प्रायः रोग होतेही नहीं यह अनुभव है, वेद भी वही बात स्पष्टतासे बतलाता है ।

उक्त मंत्रोंमें वायुके लिये " विश्वमेपज " यह शब्द आया है यही शब्द सब वायुविद्याके प्रकाशका केंद्र है । इसी शब्दने वायुचिकित्साके विषयमें सब कुछ कहा है । वायु अर्थात् शुद्ध वायु संपूर्ण औषधियोंका तत्त्व है, संपूर्ण औषधि सेवनका फल शुद्ध वायुके सेवनसे प्राप्त होता है । अर्थात् औषधियोंका कार्य केवल अकेला वायुही कर सकता है । किस व्याधिके लिये किस प्रकार वायु सेवन करना चौदिये, यह बात अन्य प्रकारसे विदित हो सकती है । अस्तु, इतना वायु चिकित्साके विषयमें कहना पर्याप्त है । अन्य अलचिकित्साके विषयमें थोड़ासा देखिये—

अप्सु मे सोमो अघवीदन्तर्विश्वानि भेपजा ।

आग्नि च विश्वशंभुयमापश्च विश्वमेपजाः ॥

इदमापः प्र वद्धत यत्किं च दुरितं मयि ।

यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेष उतानृतम् ॥ (ऋ० १।२३।२०, २२)

आपो हि प्रा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥
 यो वः शिवतमो रसस्तस्य माजयवेह नः । उशतीरिव मातरः ॥
 तस्मा भरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
 आपो जनयथा च नः ॥ (ऋ० १०।१।१-३)

भाषार्थ—“ पानीके अंदर संपूर्ण औषधियां विद्यमान हैं, जिस प्रकार अग्नि सब प्रकारसे कल्याणकर्ता है उसी प्रकार जल भी संपूर्ण औषधिरूप है । मेरे अंदर रोगबीजरूपी विष, जो कुछ गया हो उसको यह जल बाहर ले जावे । जो कुछ अपप्य मेरेसे हो गया हो वह इस जलसे दीक होवे । जल अत्यंत आरोग्यदायक है तथा बल देनेवाला है । जल अत्यंत कल्याणरूपी है, वह हमारा दित करनेवाला होवे । ”

यह सारांशरूपसे उक्त मंत्रोंका भास्य है । उक्त मंत्रोंमें जलके लिये जो विशेष शब्द आये हैं उनका अर्थ देखिये—

(१) विश्व-भेषजीः = (सर्व-भेषजीः) = जिसमें संपूर्ण औषधियां अर्थात् संपूर्ण औषधियोंका सत्व रहता है, ऐसा पदार्थ जल है । अर्थात् जलके यथायोग्य उपयोगसे औषधियोंके योग्य सेवनका फल प्राप्त हो सकता है ।

(२) दुरित प्रवाहक = (वि-चिरेचक) = शरीरमें गये हुये रोगी-त्पादक विष दूर करनेवाला जल है । अर्थात् जलके योग्य सेवनसे शरीर निर्विष होकर मनुष्य नीरोग होता है ।

(३) मयोभुवः आपः = उदक कल्याण करनेवाला है तथा दितकारक, आरोग्यवर्धक, सुखदायक है ।

(४) शिव-तमः रसः = जल यह एक अत्यन्त आरोग्य उत्पन्न करने-हारा कल्याणमय अर्क है ।

उक्त मंत्रोंमें ये शब्द हैं, कि जो जलका प्रभाव वर्णन कर रहे हैं, जिनसे अंकाधिक्रिया प्रकट होती है । इस चिकित्साके विषयमें बगले मंत्र देखिये—

जालापेणामि पिश्रुत जालापेणोप सिश्रुत ।

जालापमुग्रं भेषजं तेन नो मृष्ट जीयसे ॥

(अथर्व० १।५०।१)

भाषार्थ—“जलमे अभिषिचित्र करो, जलमे उपसिंचन करो, जलही बड़ा भारी औषध है, उसीके सेवनसे जीवन सुखमय होता है ।”

इस मंत्रमें स्पष्टतया कहा है कि जलके अभिषिचन तथा उपसिंचनसे शीघ्रित सुखमय हो सकता है, उक्त दो प्रकार जलके उपयोग करनेके हैं, उक्त प्रकारसे उपयोग करनेसे संपूर्ण रोग दूर हो सकते हैं, कारण यह है कि “जलपे उग्र भेषजं” जल अत्यंत तीव्र औषधि है, पानी बड़ी तेज दवा है । जैसा कि इस मंत्रमें कहा है उसमें और अधिक जलचिकित्सा विषयमें क्या कहा जा सकता है ।

सूर्यकिरण चिकित्सा, वायुचिकित्सा, जलचिकित्सा, इन तीन चिकित्साओंके विषयमें घोंघामा दिग्दर्शन इस समयतक किया है, निबंधका विस्तार बहुत न हो इसलिये हरएक विषयमें अत्यंत संक्षेपसेही दिखाया जाता है ।

उक्त जलचिकित्साके मंत्रोंमें अग्निके लिये ‘विश्व-शं-भुवं’ ऐसा विशिष्ट शब्द आया है ।

अग्निका अर्थ—“संपूर्ण कल्याणका उत्पादक” ऐसा है । अग्नि भी आरोग्यसंबंधक है ऐसा इस शब्दसे प्रतीत होता है । जिस कारण अग्निका उपयोग हवनमें होता है । “ऋतुसंधिषु स्वाधिरांयते । ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते ।” इस प्रकारके प्राधान्य बचन बताते हैं कि रोगीको हटानेके अर्थ यज्ञका उपयोग होता है । इसलिये अग्निके विषयमें अधिक लिखनेका प्रयोजन नहीं है । अब औषधिचिकित्साके विषयमें संक्षेपसे लिखना है—

प्रथम “औषधि” शब्दका अर्थ देखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है । औषधि शब्दमें दो शब्द हैं और उनका अर्थ नीचे दिया है—

औष (दोष)—दोष, मल, रोगबीज ।

भी-घोनेवाली, धोकर दूर करनेवाली ।

अर्थात् दोषोंको घोनेवाली, दोषोंको दूर करनेवाली जो चीज होती है उसको औषधि कहते हैं । इसी कारण औषधि वनस्पतियोंको औषधि कहते हैं । औषधियां अनंत प्रकारकी हैं । वेदमें भी अनेक प्रकारके औषधियोंका वर्णन है इन वर्णनोंमेंसे कुछ औषधियोंका वर्णन नीचे दिया है । प्रथमतः सामान्य वर्णन अगले मंत्रोंमें दिया है—

या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रिपुणं पुरा ।

मनै नु बध्नामहं शतं धामानि सप्त च ॥

यदिमा वाजयन्तमोषधीर्हस्त आदधे ।

आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥

(ऋ० १०।१७।१, १०)

भावार्थ—“ मनुष्योंके पहिले तीन युग औषधियां उत्पन्न हुयीं थीं, और इन औषधियोंके साथ सौ किंवा एक सौ सात जातियां हैं । औषधी-को बलवती करके सेवन करनेसे रोगका बीज नष्ट होता है । ”

इस मन्त्रोंमें तीन बातें कही हैं (१) औषधियोंका तीन युग प्रथम उत्पन्न होता, (२) औषधियोंकी साथ सौ जातियोंका आस्तित्व, (३) औषधियोंके सेवनसे रोगबीजोंका नाश होना, इस तीसरी बातसेही स्पष्ट शास्त्रकी उत्पत्ति है । इन मन्त्रोंमें जो बात कही है बहुतही विचारपूर्वक कही है, केवल औषधि सेवनसे व्याधिका नाश नहीं होता है, परन्तु औषधिकी वीर्यवती बनाकर-सेवन करनेसे व्याधियां दूर होती हैं, औषधिकी वीर्यवती बनानेका जो प्रकार होता है वही उसकी विधि है । इसलिये विधिमुक्त औषध बनाकर उसका अवापोग्य सेवन करना चाहिये यह सात्वर्त्य ध्यानमें धरनेयोग्य है । जब वेदमें किम प्रकार औषधियोंका वर्णन है यह देखिये—

पिप्पली औषधि ।

पीप्पली क्षिप्तभेषजी उतातिविद्धभेषजी ।
 तां देवाः समफल्ययन्नियं जीवित्वा अलम् ॥
 पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
 यं जीवमश्नवामहे न स रिष्याति पूरुषः ॥
 घातकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥

(अ० ६।१०५।१-३)

भावार्थ—पिप्पली औषधी उन्माद व्याधिपर तथा अत्यन्त पुराणे रोगपर चलती है । पिप्पलीकी प्रतिज्ञा है कि “ जो पुरुष हमारा सेवन करेगा उसका नाश नहीं होगा । ” पिप्पली औषधि वात विकार तथा उन्माद विकारपर अच्छी औषधि है ।

कैसा स्पष्ट वाक्योंमें औषधिका वर्णन आया है कोई संदिग्ध बात नहीं । साधारणतः पिप्पलीका उपयोग सर्व साधारण व्याधियोंपर किया जा सकता है । अर्थात् यही एक औषधि विविध व्याधियोंपर विविध प्रकार से चलती है । यह इस औषधिका सर्व साधारण उपयोग कहा है, इस सूचनाको ध्यानमें रखकर वैद्य पिप्पलीका उपयोग कर सकते हैं । इस औषधिका विशेष उपयोग भी स्पष्टताके साथ किया है । कि उन्माद तथा वातरोग तथा पुराणे रोगोंपर इनके सेवनसे लाभ हो सकता है । अस्तु । इस प्रकार कई वनस्पतियोंका वर्णन मंत्रोंमें आया है । उनमेंसे थोड़ासा नमूना भागे दिया हुआ है—

इयामा औषधि ।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
 आ त्या खो विशतां वर्णः परा शुफलानि पातय ॥

(अथर्व० १।२१।२)

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासमेपजामिदं किलासनाशनम् ।

अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ २ ॥

इयामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्धता ।

इदम् पु म साधय पुना रूपानि कल्पय ॥ ४ ॥

(अथर्व० १।२।४)

भावार्थ—“रामा, कृष्णा, असिक्नी, इयामा यह औपधियाँ हैं जिनके उपयोगसे किलास (श्वेत कुष्ठ) तथा पलित (श्वेत बिन्दु) बिलकुल नाश होता है । त्वचाका रंग ठीक करनेवाली इयामा वनस्पति है । जिसके सेवनसे चमड़ीका रंग पुनः पूर्ववत् होता है । ”

/ इवेत कुष्ठके ऊपर इन चार वनस्पतियोंका उपयोग करके देखना चाहिये । अनुभव, विचार तथा संशोधन करनेसे निश्चित विधिंका पता लग सकता है । वेदने सूचना दी है, अब जार्य वैद्योंका काम है कि वे इनको यथायोग्य रीतिसे उपयोगमें लाकर लोगोंको व्याधिते दूर करें ।

अपामार्ग ।

क्षुधामारं तृष्णामारं तथा अनपत्यताम् ।

अपामार्गं त्वया वयं सर्वे तदप मृज्महे ॥

अपामार्गं औषधीनां सर्वासामेक इहृशी ।

तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ (अथ० ४।१७।६-८)

भावार्थ—“क्षुधा, तृष्णा तथा अनपत्यता इनके ऊपर अपामार्ग औषधीका उपयोग होता है । संपूर्ण औषधियोंमें अपामार्ग औषधीसेही उक्त कार्य विशेष प्रकारसे होता है । ”

क्षुधा तथा तृष्णा संबंधी सर्व विकार तथा अनपत्यता संबंधी सर्व व्याधि इस औषधिके सेवनसे दूर होते हैं ।

वेशवर्धनके उपायका वर्णन अथर्व-वेद ६।१३७में आया है; तथा बलीवत्त्वनाशन अथर्व-वेद ६।१३८में आया है। इस विषयके मंत्र विस्तार-भयसे यहाँ उद्धृत नहीं किये हैं, अब एकही वनस्पतिका उल्लेख करके इस विषयकी समाप्ति करनी है—

सं ते मज्जा मज्जा भवतु समु ते पुरुषा पुरुः।

सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थयपि रोहतु ॥ ३ ॥

मज्जा मज्जा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।

अस्तु ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥

यदि कर्त पतित्वा संशये यदि वाऽदमा प्रहृतो जघान ।

ऋभू रथस्येधाङ्गानि स दधत्पुरुषा पुरुः ॥ ७ ॥

(अथर्व० ७।१२)

भावार्थ—“ रोहिणी नामक जो वनस्पति है उससे मांसादिकी शीघ्र वृद्धि होती है, इस कारण शस्त्रादिको क भाघातसे जो जगम होती है उसका घण इस वनस्पतिद्वारा शीघ्र ठीक होता है । मज्जासे मज्जा, मांससे मांस, चर्मसे चर्म, अस्थिसे अस्थि इस वनस्पतिद्वारा बढ़ता है । यदि भारि शस्त्रके भाघात तथा पथर लगनेसे घण हुया हो तो इस वनस्पतिसे शीघ्र ठीक होता है, जैसा कि उत्तम तर्पान रथके अंगोंको शीघ्र ठीक करता है, उसी प्रकार रोहिणी वनस्पति शरीररूपी रथको शीघ्र ठीक करती है । ”

यह रोहिणी वनस्पतिका वर्णन बहुत स्पष्ट है । हर एक विद्वान् पक्षको उचित है, कि इन वनस्पतियोंकी ठीक विधि भूटकर उनका उपयोग यथायोग्य करके व्याधियोंको शीघ्र हटानेका यत्न किया करे ।

औपधियां तैयार करनेके समय बंधोंको औपधियोंकी शक्ति बढ़ानेका उपाय भी सोचना चाहिये । औपध शतवीर्य तथा सहस्रवीर्य धन सक्तता है ऐसा वेदमें अनेक बार वचन आया है ।

सतवीर्यं—सौगुणा अधिक शक्तिवाला तथा

सहस्रवीर्यं—सहस्र गुणा अधिक शक्तिवाला औषध ।

घलवान्, घलवत्तर तथा घलवत्तम यह भी तीन प्रकार हैं, यह सघ संशोधक तथा संग्राहक बुद्धिसे देखना तथा विचारना चाहिये, इन वीर्यों-का संबंध औषधियोंकी तेजस्विता बढ़ानेमें होता है, छोटे बड़े वीर्यवाला औषध व्याधिके न्यूनाधिक तीव्रताके अनुसार व्याधिप्रस्तकी आयुके अनुसार तथा रोगकी आयुके अनुसार न्यूनाधिक भेदन किया जा सकता है, अस्तु । यहाँ औषधि विषय समाप्त करके पायु शुद्ध करनेवाले पृथ्वीके विषयमें वेद क्या कहता है यह संक्षेपसे देखते हैं—

यथाश्चरथा न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखाण्डिनः ।

तत् परेता अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र यः प्रेता हरिता अर्जुना उत

यन्नाघाटाः कर्कर्यः संपदन्ति ।

तत्परेता अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

एवमगन्नापधीनां पीरुधां पीर्यायती ।

अजशृंगवराटकी तोदणशृंगी व्युपतु ॥ ६ ॥

(अथर्व० ४/३७)

भाषार्थ—“जहाँ अश्वत्थ न्यग्रोध, ये महावृक्ष अपने पत्रोंके साथ प्रसक्ततासे रहते हैं, अर्जुन, अघाट, कर्करि, अजशृंगी, वराटकी, तोदणशृंगी ये पृथ तथा वनस्पतियाँ रहती हैं वहाँ (अप्सरः) पानीमें चरने हारे विषमंतु नहीं रहते हैं । ”

“ अप्सर ” शब्द पानीमें संचार करनेवाले ओ रोगग्रंतु होते हैं उनका बोधक है । इन पृथ्वीके कारण मलेरियाका दूर होना भी संभव है क्योंकि मलेरियाके रोगवीज भी चलाप्रविष्ट होते हैं । जहाँ मलेरिया पटुग होता है वहाँ इन पृथ्वीको लगाकर अनुभव देखनेयोग्य है, इस प्रकार यह पृथ्वीके विषयमें लिखा है ।

अस्तु, इस प्रकार वैद्यक विषयकी कई विद्याओंके विषयमें वेदमें उल्लेख आया है—जिसका दिग्दर्शन करना भी एक बड़ा भारी ग्रंथ लिखनेके समान बड़े आयासका काम है ।

एक वर्ष हुआ मैंने वेदके वैद्यशास्त्रका अभ्यास प्रारंभ किया, यद्यपि वैद्यशास्त्र मेरा विषय नहीं, तथा मेरी गति भी इस विषयमें बहुतसी नहीं, तथापि इस विषयकी खोजमें एक वर्षसे मेरी रुचि हो गयी । और मैं इस विषयका विचार करता रहा इस समयतक मेरे पास आठसौसे अधिक मंत्र उपस्थित है, कि जिनमें वैद्यशास्त्रके विषयके अमृत सिद्धांत लिखे हुवे प्रतीत होते हैं, अन्य भी सैकड़ों मंत्र होंगे जो मैंने न देखे हों अथवा मेरे समक्षमें न आये हों ।

यदि कोई विद्वान् वैद्य इन मंत्रोंका निरीक्षण करेगा और विचारपूर्वक संगति लगावेगा, तो लोगोंके ऊपर बड़ा भारी उपकार हो सकता है, मैं यथामति इन मंत्रोंकी संगति लगा रहा हूँ और इन मंत्रोंके समग्रको लोगोंके सम्मुख रखनेकी मैं इच्छा कर रहा हूँ, परंतु कितने समयका यह काम है इसका निश्चय इस समयतक नहीं हुआ है ।

अस्तु अंतमें इस महान् तथा गंभीर विषयकी ओर विद्वान् वैद्योंको अपनी दृष्टि डालनी चाहिये, ऐसी उनकी सविनय नम्र विनति करके मैं इस अव्य निबंधको समाप्त करता हूँ ।

व्यक्तिमें शांति, राष्ट्रमें शांति, जगत्में शांति ।

“पीपल और पुंसवन”

(लेखक—श्री. पं. ध्वजायामजी, बैद्य, पटियाला.)



जिससे सन्तान पुल्लिंग पैदा हो गर्भका ऐसा संस्कार करना पुंसवन कहलाता है। इस संस्कारका समय गर्भके दूसरे अधिकसे अधिक तीसरे मासतक है। इसके पीछे इस संस्कारका कोई प्रभाव नहीं हो सकता। इसलिये तीसरे महीनेके पश्चात् यह संस्कार अनावश्यक है। यह संस्कार केवल उसी गर्भका करना चाहिये जिससे सन्तान पुल्लिंग अर्थात् पुत्र उत्पन्न करना चाहते हों। जो लोग लड़की पैदा करना चाहते हों उनके लिये यह संस्कार नहीं है। आजकल इस संस्कारको अंधाधुंध बिना किसी विचारके किया जाता है, यह ध्यर्थ है।

कुछ लोगोंका यह विचार है कि यह संस्कार प्रत्येक अवस्थामें करना चाहिये चाहे गर्भमें लड़का हो या लड़की। क्योंकि इनके विचारमें यह संस्कार एक रस्म है जिसका कि पूरा करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझ रक्खा है, इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु “पुंसवन” शब्द ही प्रगट करता है कि इससे सन्तान पुल्लिंग उत्पन्न हो। इसको छोड़कर भी यदि “सामवेद” के मंत्रोंको देखा जाये, तो पता चलता है कि यह संस्कार केवल पुल्लिंग सन्तानको उत्पन्न करनेके लिये है। इन मंत्रोंमेंसे एक मंत्रमें ये शब्द पड़े हुए हैं, “पुमान् गर्भस्तद्वोदरे”। अर्थात् गर्भवती स्त्रीकी ओर संकेत है कि तेरे पेटमें पुमान् अर्थात् नर बच्चा या पुल्लिंग बच्चा है। दूसरे मंत्रमें लिखा है कि “पुमांसं पुत्रं विन्दस्व”, अर्थात् तू पुल्लिंग सन्तानको प्राप्त हो। इससे भी यही पाया जाता है कि यह संस्कार केवल उस गर्भका होना चाहिये जिससे कि पुत्र या पुल्लिंग संतान अभिप्रेत हो।

यदि लडकी अभिप्रेत हो तो फिर इन मंत्रोंके पढ़नेसे क्या लाभ, जिनमें कि पुत्रप्राप्तिकी कामना की गई है। प्रत्येक गर्भमें इन मंत्रोंका पढ़ना अनावश्यक है। क्योंकि प्रत्येक गर्भसे लडकाही पैदा नहीं होता। यदि ये मंत्र पढ़नेपर भी लडकी पैदा हो तो फिर ये मंत्र अनावश्यक ठहरते हैं। या यदि प्रत्येक गर्भसे लडकेके उत्पन्न होनेकी ही कामना की जाये तो यह सृष्टिनियमके विरुद्ध है। क्योंकि संसारमें लडके और लडकियोंकी समान आवश्यकता है यदि संसारमें केवल लडकेही उत्पन्न हों और लडकियां पैदा न हों तो भी काम नहीं चलता। और यदि केवल लडकियां ही पैदा हों और लडके पैदा न हों तो भी संसार स्थिर नहीं रह सकता।

जिन स्त्रियोंको केवल कन्याएँ ही पैदा होती हैं या जो लोग किसी आवश्यकताके लिये लडका पैदा करना चाहते हों, इनके लिये जहां आयुर्वेदके निर्देशके अनुसार गर्भाधान संस्कार करना आवश्यक है, यहां पुंसवन संस्कार भी इनकोही करना चाहिये। संभव है ऐसे भद्र पुरुष जो इस संस्कारको धार्मिक रस्म समझकर प्रत्येक गर्भके लिये करना आवश्यक समझते हों, मेरे इस विचारसे सहमत न हों। परन्तु यतः यह विषय साम्प्रदायिक झगड़ोंसे पृथक् है अतः किसीके इसके अनुकूल होने या न होनेका इसपर कोई प्रभाव न होगा।

पुंसवन संस्कार केवल इसी लिये नहीं कि इससे पूर्व गर्भाधान संस्कार पुत्र होनेके नियमोंकी उपेक्षा करके किया जाये। इसमें संदेह नहीं कि ऐसी अवस्थाओं भी जबकि बिना किसी विशेष विचारके गर्भाधान संस्कार किया जा चुका हो, या स्त्रीकी कमी तथा रक्तकी अधिकतासे समय, साथही इन तिथियोंमें जिनमें समागम करनेसे लडकी उत्पन्न होना लिखा गया है, गर्भाधान किया गया हो, इस संस्कारसे संतान पुष्टिग उत्पन्न हो सकती है। परन्तु यह अधिक उत्तम है कि प्रारंभसेही पुष्टिग संतानकी तैयारी करके आयुर्वेदके निर्देशके अनुसार गर्भाधान संस्कार करके समय-पर ही इस संस्कारको किया जाये।

यह आवश्यक है कि कुछ समय यह आशेष करें कि जब कि नींव ऐसी ढाली गई हो जिससे कि लडकी उत्पन्न हो, उस अवस्थामें पुंसवन संस्कारसे लडकीके स्थानमें लडका कैसे उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् गर्भमें महीने या दो महीनेकी लडकी लडकेके आकारमें किस प्रकार परिवर्तित की जा सकती है? इस आशेषका इतना उत्तर तो यहाँ ही दिया जाता है कि यदि ऐसा हो भी कि, स्त्रीपुरुषने जान वृत्तकर आयुर्वेदके निर्देशके अनुसार लडकी उत्पन्न होनेके नियमोंको पालन करके गर्भाधान किया हो, पुंसवन संस्कारसे लडकीके स्थानमें लडका उत्पन्न हो सकता है अर्थात् तीन महीनेसे पहिले गर्भमें लडकीका लडका बनाया जा सकता है। किस तरह? इसका उत्तर आगे चलकर दूंगा।

अभी यहाँ केवल इस बातपर विचार करना है कि लडके और लडकीके उत्पन्न होनेमें मुख्य नियम क्या है? अर्थात् कौनसी ऐसी बात है, जो लडका पैदा होनेका कारण है, और कौनसी ऐसी बात है जिससे कि लडकी पैदा होती है। आयुर्वेदके ग्रंथ चतुर्विंशति हैं कि यदि गर्भाधानके समय पीर्य अधिक हो तो पुत्र, यदि रज अधिक हो तो कन्या, और यदि रज पीर्य सम हों तो नपुंसक उत्पन्न होता है। भावप्रकाशमें लिखा है—

आधिष्ये रेतसः पुत्रः कन्या स्यादात्तयेऽधिके।

नपुंसकं तयोः साम्ये, यथेच्छा परमेश्वरी ॥

(भा. प्र. १। ४१)

अर्थात् पीर्य अधिक होनेसे पुत्र, रज अधिक होनेसे कन्या, रज और पीर्य समान होनेसे नपुंसक, अर्थात् जो न स्त्री हो न पुरुष हो। इतना लिखनेपर भी भारमिथने इस श्लोकके अन्तमें ये शब्द रत्न दिये हैं कि, “यथेच्छा परमेश्वरी”। इसका अभिप्राय यह है कि “जैसी परमेश्वरकी इच्छा!!” भाव प्रकाशके टीकाकार लाला बालिग्रामजी वैश्य इसका यह अर्थ करते हैं कि, “आगे परमेश्वरकी इच्छा”। यदि भारमिथका यही भाव है जो टीकाकारने व्यक्त किया है तो इससे निश्चित होता है, कि

भावमिश्र यह मानते हुए भी कि “ वीर्याधिक्यसे पुत्र और रजके आधिक्यसे कन्या तथा दोनोंके समान होनेसे नपुंसक होता है ” इस पर पानी फेर कर ईश्वरकी इच्छाको ही नियम मानते हैं। अर्थात् इनके विचारमें यदि ईश्वरकी इच्छा हो तो इस नियममें भी परिवर्तन हो सकता है। अर्थात् वीर्यके अधिक होनेपर भी कन्याका उत्पन्न हो जाना, रजके अधिक होनेपर भी पुत्रका उत्पन्न हो जाना और रज और वीर्यके समान होनेपर भी नपुंसक उत्पन्न न होकर पुत्र या कन्याका उत्पन्न हो जाना, भावमिश्रके विचारमें संभव है। “ ईश्वरही जैसी इच्छा ” ऐसा कहनेके स्थानमें भावमिश्र यदि यह बतला जाते कि वीर्य अधिक होनेसे लडकी, रज अधिक होने हुए भी पुत्र और रज और वीर्य समान होते हुए भी लडका या लडकी उत्पन्न होना किसी नियमपर आश्रित है, तो अधिक अच्छा होता। प्रायः देखा जाता है कि जो बात समझमें न आये उसके लिये “ ईश्वरकी इच्छा ” कह दिया जाता है। भावमिश्रके ये शब्द भी ऐसेही प्रतीत होते हैं !!

असल बात यह है कि रज अधिक होनेपर भी पुत्र, वीर्य अधिक होनेपर भी कन्या और रज और वीर्य दोनों समान होनेपर भी पुत्र तथा कन्या उत्पन्न हो सकते हैं। वेद तथा आयुर्वेदका बतलाया हुआ पुंसवन संस्कार, गर्भाधानके समय रज अधिक होनेपर भी लडका पैदा होनेका कारण है।

यहां यह प्रश्न उठना आवश्यक है कि यदि पुंसवन संस्कारसे पुत्र उत्पन्न हो सकता है तो कोई ऐसा भी संस्कार होना चाहिये, कि आवश्यकता होनेपर जिससे दूसरे या तीसरे महीनेमें गर्भको, चाहे गर्भाधानके समय वीर्य अधिकही क्यों न हो, लडकेके आकारमें परिवर्तित किया जा सके। इसका उत्तर “ हो ” में ही दिया जाता है, अर्थात् जहां भेदने पुंसवन संस्कारसे पुत्र उत्पन्न हो सकता है यह बतलाया है वहां कन्या और नपुंसककी उत्पन्न करनेके नियम भी बतला दिये हैं।

भावमिश्रने उपरोक्त श्लोक लिखनेके पश्चात् एक प्रश्न उठाया है कि “स्त्रियोंका रज सर्वदा अधिक होता है और वीर्य कम होता है तो पुत्रकी उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? (सायदी आयुर्वेद बतलाता है) कि स्त्रीका रज चार भाग होता है और पुरुषका वीर्य एक भाग। जब स्त्रीका रज पुरुषके वीर्यसे सर्वदा अधिक होता है तो फिर पुत्रकी उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती।”

प्रश्न उचित ही है, परन्तु दुःख है कि भावमिश्रने इसका उत्तर पथोपचित नहीं दिया। यदि यह कह दिया जाये कि भावमिश्रजी इस नियमको समझही नहीं सके तो अशुद्ध नहीं है। देखिये भावमिश्रजी इसका क्या उत्तर देते हैं। आप लिखते हैं कि- “निस्सीम प्रसन्नता होनेसे अथवा दूध आदि वीर्यवर्धक वस्तुओंसे किसी किसी समय वीर्य बढ़कर गर्भाशयमें अधिक गिरता है। और कभी दुःख आदिसे मन बिगड़कर वीर्यकी कमीसे वीर्य कम गिरता है। इसी प्रकार रज भी न्यून अधिक हो जाता है। इसीसे ही पुत्र और कन्याकी उत्पत्ति होती है।”

मन बहुत दुःखी होता है जब यह ध्यान आता है कि भावमिश्र जैसे प्रतिष्ठित वैद्यने जिनके भागे आज सहस्रों वैद्य झुकते हैं, और जोकि आजसे सैकड़ों वर्ष पहिले जो समय आयुर्वेदके भासकी अपेक्षा बहुत अधिक समीप था और भारत वर्षमें अच्छे अच्छे वैद्य जिनके समयमें उपस्थित थे, मनुष्यके शरीरकी बुनियाद रज और वीर्यकी कमी और आधिक्यके सिद्धान्तको समझनेमें इतनी भारी ठोकर खाई है, तथा च पूर्णपक्षमें स्वयं ही रज तथा वीर्यका चार और एक होना स्वीकार कर लिया है !!! परन्तु यथार्थ यह है कि—

“समानता कई प्रकारकी होती है। यथा भारमें और आयतनमें। देवदारकी लकड़ी और फौलाद। यदि आयतनमें समान होंगे अर्थात् चार चार इंचपले वर्ग ठुकटे देवदारकी लकड़ीका तथा फौलादका

आयतनमें समान कहला सकते हैं परन्तु भारमें समान न होंगे और यदि भारमें समान होंगे, मान लीजिये चार चार तोला है, तो आयतन अर्थात् लंबाई चौड़ाई और मोटाईमें समान न होंगे। प्रायः सृष्टिमें यह पाया जाता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तुके यदि भारमें समान है तो आयतनमें भी समान नहीं होती।”

भावप्रकाशसे उपरोक्त जिस आक्षेपमें रज तथा धीर्यका चार और एक हिस्सा होना लिखा गया है, वही मूल लेखमें चार और एक अजुली है। अर्थात् स्त्रीका रज चार अजुली और पुरुषका धीर्य एक अजुली। यहाँ भारका मान नहीं है प्रत्युत केवल आयतनके विचारसे रज और धीर्य चार और एक बताये गये हैं।

इसके अतिरिक्त एक और प्रकारकी समानता हो सकती है, दृष्टान्त कीजिए सेरभर आटेकी रोटी बनानेके योग्य गूधनेके लिये तीन छटाक पानीकी आवश्यकता है। यद्यपि आटा और पानी न तो भारमें समान हैं, न आयतनमें समान हैं और नाही मूल्यमें समान हैं परन्तु रोटी तैय्यार करनेमें निज निज भागानुसार समान हैं। यदि पानी कम होगा तो आटा गूधा न जा सकेगा। यदि कठिनासे गूधा जाये तो रोटी कठिन घनेगी। और यदि इस मात्रासे अधिक जल डाला जाये तो आटा पतला हो जायेगा और रोटी न पक सकेगी। यदि आटा पतला होगा तो यह अवश्य कहा जायेगा कि इसमें पानी अधिक पड़ गया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पानीकी मात्रा आटेसे अधिक होगई है। प्रत्युत यह समझा जायेगा कि रोटी पकानेके लिये आटेमें जितनी पानीकी आवश्यकता थी इससे अधिक डाला गया।

दालमें नमक बहुत कम होता है, परन्तु अपनी मात्रासे जब अधिक पड़ जाता है तो यह कहा जाता है कि दालमें नमक अधिक है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं होता कि दालमें नमक दालकी मात्रासे अधिक पड़ गया है। प्रत्युत यही समझा जाता है कि नमक जितना डालना चाहिये या इससे अधिक पड़ गया या डाला गया।

रूपना कीजिये एक मन दूधको मीठे दहीके रूपान्तरमें करनेके लिये एक तोला दहीकी आवश्यकता है। यदि हम एक तोलेके स्थानमें दो तोला दही डाल दें तो चैत्यार डीनेवाला दही रखा हो जायगा। अरु दहीको देखकर पेजाबमें कहा करते हैं कि इसमें जामन अधिक लग गया है। जामन इस धोदेसे दहीका नाम है जो दही बनानेके लिये दूधमें डाला जाता है। दही खड़ा होनेपर यदि कोई यह कह दे कि इसमें जामन या अरु अधिक डाला गया है तो क्या इसके यह अर्थ होंगे कि खटाई दूधकी मात्रासे अधिक डाली गई है? बढ़ावि नहीं। प्रयुक्त प्रत्येक विचारवान यही समझेगा कि खटाई अपनी मात्रासे या जितनी आवश्यकता थी उससे अधिक डाली गई है। यद्यपि दही जो जामनके लिये दूधमें मीठा दही जमानेके लिये डाला जाता है, भार तथा आयतनादिमें समान नहीं होता। परन्तु जिस उद्देश्यके लिये डाला जाता है उस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये समान होता है। एक यह समावृत्ति है। अरु विषयके लिये यह वृद्धाहरण ठीक अनुकूल है।

प्रश्नकर्ता भावमिश्रजीसे पूछता है कि जब कि खोला रज चार अंगुली और घुटनका धीरे शरीरमें सर्वदा एक अंगुली होता है तो फिर यह क्योंकर हो सकता है कि कभी कोई लड़का पैदा हो। इसलिये कि भिन्न यह है कि लड़का अधिक धीरेसे उत्पन्न होता है। इतना तो धीरे यह नहीं सकता कि खोले रजसे अधिक हो जाये, परन्तु संसारमें लड़के उत्पन्न होते हैं इसका कारण क्या है।

परन्तु भावमिश्रजीने इस सिद्धान्तको धुआँ तक नहीं, केवल यह कह दिया कि मुनीसे भयया धीरेवर्षक वस्तुओंके प्रयोगसे धीरे बढ जाता है और बड़ा हुआ धीरे लड़केकी उत्पत्तिका कारण होता है।

असल बात यह है कि गर्भ उद्हरनेके लिये गर्भाधानके समय खोला रज आयतनमें चार और घुटनका धीरे आयतनमें एक हो तो यह समान कद

लाता है। अर्थात् इससे नपुंसक बच्चा पैदा होता है। यदि वीर्य एक हिस्सेसे आयतनमें कुछ बढ़ जाये और रज चार भाग हो या इससे कुछ कम हो जाये तो लडका और यदि रज आयतनमें चार हिस्सेसे कुछ बढ़ जाये और वीर्य एकही हिस्सा हो या एक हिस्सेसे भी कुछ कम हो जाये तो लडकी पैदा होगी। परन्तु तीन मासतक अवस्थाएं अनुकूल रहें तो। यह इसलिये लिखा गया है कि दूसरे या तीसरे महीने तक संस्कारसे इसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

इसी प्रकरणमें भावमिश्रजी लिखते हैं कि “गर्भाशय” के मुखमें तीन नाडियां जिनके नाम “चांद्रमसी, समीरणा और गौरी” हैं। यदि गर्भाधानके समय वीर्य समीरणाके मुँहपर गिरे तो गर्भ नहीं रहता। यदि चांद्रमसीके मुँहपर गिरे तो कन्या होती है और यदि गौरीके मुखपर वीर्य गिरे तो पुत्र पैदा होता है। (देखिये श्लोक १७, १८)

यहां मिश्रजी पहिले सिद्धान्तको भूल गये। अर्थात् यदि वीर्य अधिक हो तो किसी भी नाडीके मुँहपर गिरे लडका ही पैदा होना चाहिये। इसी प्रकार यदि रज अधिक हो तो चाहे किसी मार्गसे वीर्य जाये लडकी ही उत्पन्न होनी चाहिये। हाँ, मिश्रजीने यह न बताया कि नपुंसक उत्पन्न होनेका कारण क्या है। अर्थात् वह कौनसी नाडी है जिसके मुँहपर वीर्य गिरनेसे सन्तान नपुंसक उत्पन्न होती है। क्योंकि “समीरणा” के मुँहपर वीर्य व्यर्थ जाता है यह तो उन्होंने बता दिया कि नपुंसक उत्पन्न होनेके लिये भी कोई न कोई नाडी होनी चाहिये।

मिश्रजीने बतलाया कि यह बात चंद्रमौली अर्थात् शिवजीने बतलाई है, अस्तु यह बात किसीको किसीने भी बतलाई हो माननेके योग्य नहीं है।

अपि दयानंदने-संस्कार विधिके गर्भाधान-संस्कारमें मनुके प्रमाणसे बतलाया है जो कि आशुर्वेदके ढीक अनुकूल है कि, “जिस दिन स्त्रीको अशु प्रारंभ हो उस दिनसे चार रातें छोड़कर बारह रातोंमें ही गर्भाधान

संस्कार करना चाहिये। परंतु ग्यारहवीं और तेहरवीं रात भी गर्भाधान न करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इन दिनों पूर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी और अष्टमीमें भी गर्भाधानको आज्ञा नहीं है क्योंकि ये पर्व हैं। इन दिनोंके अतिरिक्त शेष रातोंमें यदि पुत्रकी अभिलाषा हो तो ऋतु प्रारंभ होनेसे छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं चौदहवीं और सोलहवीं रातमें, और यदि कन्या उत्पन्न करनेकी अभिलाषा हो तो पांचवीं, सातवीं, नवीं और पन्द्रहवीं रातमें गर्भाधान संस्कार करना चाहिये। सोलहवीं रातके पीछे गर्भाशयका मुंह बंद हो जाता है। इसलिये इसके पीछे गर्भाधान नहीं करना चाहिये।

यद्यपि आयुर्वेदने यतलाया है कि सोलहवीं रातके पीछे गर्भाशयका मुंह बंद हो जाता है, परंतु यह अन्तिम नियम नहीं है। क्योंकि इस कथामें पञ्चाङ्ग भी कारण बतलाने में उद्धर सकता है। किस तरह? इसपर विचार करना यहां आवश्यक नहीं है। प्रथम चार रातें, ग्यारहवीं और तेहरवीं रात इसी तरह पूर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी, और अष्टमीकी रातको गर्भाधानकी आज्ञा क्यों नहीं है, इसपर भी कभी फिर लिखा जावेगा।

यहां केवल इतना ही यतला देना आवश्यक है कि ऋतु प्रारंभ होनेवाले द्वितीये उपरोक्त छठी और आठवीं आदि रातोंमें १३ अपने परिमाण अर्थात् चार भागमें कम और पांचवीं और सातवीं आदि रातोंमें अधिक होता है। अतएव पहिली रातोंमें गर्भाधानसे पुत्र और दूसरी रातोंमें गर्भाधानसे पुत्रीका उत्पन्न होना कहा गया है।

जिस प्रकार वृक्षपर फल आनेका कोई ऋतु होता है इसी प्रकार स्त्रीके पल्लवती होनेके दिने, या गर्भधारण करनेके योग्य होनेके दिने ऋतु या समय नियत है। अर्थात् ऋतु प्रारंभ होनेके पश्चात् इसमें भी कुछ रातें पुत्र पैदा होनेके दिने और कुछ लड़कियोंके दिने ऋतु या ठीक समय कहलाती है, जिनका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

जिम प्रकार कि कुछ वृक्ष सालमें एकवार, कुछ दूसरे साल और कितनेही सालमें दो बार फल लाते हैं। इसी प्रकार कुछ स्त्रियां प्रतिवर्ष, कुछ दूसरे वर्ष और कुछ तीसरे साल और छठे वर्ष गर्भवती होती हैं। कितनीही केवल एक लड़का उत्पन्न करके फिर गर्भधारण नहीं करती, जिनको कारुण्य्या कहते हैं। कितनी ही सारी आयुमें केवल एक लड़की ही उत्पन्न करती हैं। अनेक स्त्रियें लड़केही पैदा करती हैं, कुछ लड़कियां ही पैदा करती हैं। कुछ स्त्रियें एक बार पुत्र फिर कन्या एक क्रममें बच्चे पैदा करती हैं। और कितनीही एक बार लड़का और दो बार लड़कियां और कितनी एक बार लड़की और दो बार लड़के उत्पन्न करती हैं। कुछ प्रथम बार लड़का फिर सब लड़कियां और कुछ प्रथम बार लड़की फिर सब लड़केही पैदा करती हैं। ये सब अभ्यास नियमके रूपमें या तो जन्ममें शरीरके ढाँचेमेंही उत्पन्न हो जाते हैं या पाँछसे आहार और व्यवहारके कारण शरीरमें घसकर जाते हैं ये स्वभाव जन्मकालसे हों अथवा पीछेके आहार व्यवहारके कारण उत्पन्न होगये हों। उचित चिकित्सासे दूर होकर संबंधोंके लिये अथवा आवश्यकता होनेपर किसी विशेष समयके लिये इच्छानुसार बनाये जा सकते हैं।

चंद्रमाके २८ नक्षत्रोंका स्त्रीके रज और वार्षपर भिन्न भिन्न प्रभाव होता है। जिस प्रकार पूर्णमासीको पूरे चाँदकी ज्योत्स्नासे समुद्रमें ज्वार भाटा अर्थात् उतार और चढ़ाव और अमावास्या अर्थात् संध्या अंधेरी रातमें अपेक्षा कृत निसम्भता होती है। यद्यपि अमावास्याको भी समुद्रमें नदियोंके गिरने और हजारों मिल लम्बी लहरोंके कारण उतार चढ़ाव होता है परन्तु पूर्णमासीसे कम होता है।

यद्यपि प्रत्यक्षमें समुद्रमें पूर्णमासीको ही अधिक प्रभाव प्रतीत होता है, परंतु प्रत्येक चंद्रमाकी तिथिको इस प्रभावका चढ़ाव उताराव रहता है। इसी प्रकार स्त्रीके रज और वार्षपर भी यही प्रभाव होता है।

छियोंके रजके अपने परिमाणसे न्यूनाधिक होनेकी तिथियोंको उपरोक्त छठी और पांचवीं आदि रातोंसे समझा जा सकता है। हा इतना संकेत यहाँ कर देना आवश्यक है कि चांदकी तिथियोंका पुरुषके भण्डकोशोंपर सिक्कडने और फैलनेके रूपमें प्रमाण व्यक्त होता है। जिसके कि समग्रदाग्य्यकि यत्तलाने पर यह अनुभव कर सकता है कि इस समय शरीरमें धीर्यका चढ़ाव है या उतार। न्यूनता है या आधिक्य।

इस लेखमें इस समयतक यह यत्तलाया जा चुका है कि—

(१) गर्भाधानके समय धीर्यका अधिक होना लड़केके, रजना अधिक होना लड़कीके और दोनोंका समान होना नपुंसकके उत्पन्न करनेका कारण है।

(२) कुछ तिथियोंमें छियोंका रज बड़ा हुआ होता है और कुछमें कम।

(३) छियोंके शरीरमें रज यदि आयतनमें चार भाग है तो पुरुषोंके शरीरमें धीर्य आयतनमें एक भाग होता है।

(४) गर्भाधानके समय यदि यह परिमाण ठीक रहे तो यथा नपुंसक उत्पन्न होगा। इस मात्रासे रज घट जाये तो लड़की और धीर्य अपने मात्रासे घट जाये तो लड़का उत्पन्न होता है।

(५) यह सब ही हो सकता है जब कि गर्भाधानमें लेकर तीनरे महीने तक किसी संस्कारसे इसमें परिवर्तन न किया जाये या स्वयमेव इसे परिवर्तित करनेका कोई कारण उत्पन्न न हो जाय।

यहाँ यह भी यत्तला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि नपुंसक वधोंमें भगेशा शून्य पिताके धीर्यके अधिक होनेसे पुत्र मरता स्वामार और बिन्दु आदि पाये जाते हैं और माताके रजके अयेक्षा शून्य अधिक होनेसे पैंग स्वामार तथा बिन्दु पाये जाते हैं। यहाँतक कि बहुतसे पुरुषोंके मुँहपर दाढ़ी और मूँछोंके चिह्नतक नहीं होते और बहुतसी छियोंके मुँहपर

दादी और मूँ होती हैं। बहुतसे पुरुषोंकी बोल चाल जताना और बहुतसी बिरोंकी चाल ढाल मर्दाना होती है। इसमें मातापिताके रज और धीयोंकी न्यूनता और आधिक्य ही कारण है।

अब इस बातपर विचार करना चाहिये कि जानवृत्तके या घेजाने किसी भी कारणसे गर्भाधानके समय यदि कन्याकी शुनिपाद रखी गई हो, तो उसे पुंसवन संस्कारसे पुत्रके आकारमें किस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है। यह बतलाया जा चुका है कि पुंसवन संस्कार तीसरे महीने तक ही हो सकता है; इसके पश्चात् नहीं। यह क्यों? इसलिये कि तीन मासतक गर्भ खून की ही आकृतिमें होता है। अधिकसे अधिक सामान्य लोपठेका आकार धारण कर सकता है। पुरुष, स्त्री या नपुंसकके अवयव, रूपादि इसमें कुछ भी नहीं होते। चौथे मासके प्रारंभसे अंगोंकी बनावट प्रारंभ होती है और गर्भ पतला अर्थात् खूनके आकारमें नहीं रहता। प्रायुक्त कठिन हो जाता है।

इसी लिये आयुर्वेदने चौथे मासके प्रारंभसे पहिले यदि गर्भ जाता रहे तो उसे गर्भत्याग (अर्थात् गर्भका बह जाना) कहा है और चौथे मासके प्रारंभके पश्चात् यदि गर्भ जाता रहे तो उसे गर्भपात (गर्भ गिरना) कहा है। गर्भत्याग या गर्भका बहना केवल यह शब्दही बतलाया है कि चौथा मास शुरू होनेसे पहिले गर्भ खूनकी आकृतिमें होता है, क्योंकि सदा पतली वस्तुही बह सकती है, ठोस नहीं। जब गर्भमें बालक जम जाता है या ठोस हो जाता है, तब वह अगर किसी कारणसे दूर हो जावे वह इस प्रकार गिरता है जिस प्रकार कि वृक्षपरसे फल टूटकर गिरता है।

एक मण दूधमें एक तोला जामन (दूध जमानेके लिये खटाई) डाला जा चुका है, जिससे कि जमनेपर मीठा दही तैयार होगा। मगर दही जमनेसे अधिक समय पूर्वही जब कि दूध अभी पतला ही हो अथवा

हम चाहें तो अधिक खटाई डालकर उसे खटा बना सकते हैं। अथवा यदि खटाई अधिक ढाली गई हो जिसका परिणाम दहीका खटा तैयार होना हो तो खारी वस्तुओंके मिलापसे यदि जमनेसे पहिले पहिले उसे इस योग्य बना सकते हैं कि दही खटा न हो, प्रत्युत मीठा हो।

कच्चा दूध, दही आदि खटाईके लथोगसे या अधिक गर्मी खाकर यदि फट गया हो परन्तु अभी आगपर न चढ़ाया गया हो तो बेसन (चनेकी दालका आटा) या सज्जि आदि स्वरूप मात्रामें मिलाकर खूब हिलाकर आगपर रखें तो दूध न फटेगा।

कुम्हार धरतन बनानेसे पहिले भट्टीको गूघता है जबतक कि मिट्टी आर्द्र है और वह आकृति बदल सकती है, तबतक वह एकबार नहीं बार बार इसकी आकृतियें बदल सकता है। परन्तु जब मिट्टी एकबार ठोस हो जाये, शुष्क हो जाये तो इसकी आकृति परिवर्तन नहीं हो सकती। स्त्रीके गर्भाशयमें कोई सांचा तो होताही नहीं जिसमें कि बच्चा पुत्र, कन्या वा नपुंसकका रूप स्वीकार करता है। प्रत्युत यह बात वीर्य व रजकी न्यूनता व अधिकता और पीछेके सस्कारों (प्रभावों) पर निर्भर है। पुत्र, कन्या, नपुंसक अपनी इच्छाके अनुकूल उस समयतक तैयार किया जा सकता है जबतक कि गर्भ जमकर ठोस नहीं हुआ, प्रत्युत पतली और बहनेवाली आकृतिमें हो।

तीसरे मास जबतक गर्भ पतला तथा बहनेवाला होता है अतएव इसे यथेच्छ रीतिसे किसी विशेष आकार स्वीकार करनेको याधित किया जा सकता है। अर्थात् विशेष ओषधियों या सस्कारोंसे रज या वीर्यमेंसे किसी एकके प्रभावको कम करके किसी दूसरेके प्रभावको अधिक किया जा सकता है। यह असम्भव नहीं है।

जहाँतक भी विचार करें यही बात साधारणतया पाई जाती है। जो बात मनुष्यकी समझमें नहीं आती उसे सृष्टिनियम विरुद्ध कहकर मनको शान्ति दी जाती है। अथवा दूसरोंसे पाँछा छुटानेके लिये यह बात

अमोघ शस्त्रके रूपमें प्रयुक्त की जाती है। परंतु खोज करते हुए यह कहना ही कठिन हो जाता है कि यह या वह बात सृष्टिनियमके विरुद्ध है।

ग्रामोफोनको गाते देखकर एक जंगली आदमी जिसने अचानक प्रथम बारही यह दृश्य देखा हो यह नहीं मानता कि लकड़ी भी गा सकती है। वह यही विचार करता है कि इसके नीचे कोई आदमी गा रहा है। अन्तमें यह इसे मान लेता है कि लकड़ी भी गा सकती है। यह बात प्रायः सर्वत्र और प्रत्येक अवस्थामें पाई जाती है। इसमें संदेह नहीं कि हरएक बात जो पर्याप्त खोजके पश्चात् भी संभव सिद्ध न हो असंभव कही जा सकती है। परन्तु सामान्यतः संसारमें यही हो रहा है, कि जो बात जिसकी समझमें नहीं आई वह इसे असंभव और नियमविरुद्ध कह उठता है हालाँकि सृष्टिनियम इतना विस्तृत और सीमारहित है कि इसका मनुष्यके भ्रष्टिक या समझमें समाना, जो संकुचित और सीमावाला है, स्वयं असंभव बात है। तलाश करनेवाले पाते हैं और खोजनेवाले प्राप्त कर लेते हैं, या खोदनेवाले सहस्रक पहुंच जाते हैं। संसारमें सदा यही होता रहता है।

विषय लंबा हो गया है, अभी पीपल पुंसवनके किस प्रकार काम आ सकता है इसपर कुछ लिखना अवशिष्ट है। परन्तु जितना लिखा गया है वह आवश्यक था। मैं यह लिख चुका हूँ कि पुंसवन संस्कार करनेके केवल यही लोग अधिकारी हैं जो लडका उत्पन्न करना चाहते हों।

संस्कारके अर्थ कतिपय मंत्रोंको पढ़कर स्त्रीके शरीरके किसी अंगपर हाथ रख देना या केवल हवन कर छोड़ना नहीं है। संस्कारके अर्थ “बनाना” या “किसी विशेष बनावटके लिये प्रभाव डालना” है। जो लोग यह पूछें कि क्या इस कृत्यका जो कि इस संस्कारमें किया जाता है कोई प्रभाव नहीं होता? उनको यह उत्तर दूंगा कि हाँ होता है और अवश्य होता है। यह नहीं हो सकता कि किसी कर्मका कोई प्रभावही न

हो। यदि मैं यहाँ बैठे हुए हाथपर हाथ भारकर ताली बजाऊं तो इसका प्रभाव होगा। बिजुली या आकाशके द्वारा एक बार इस सारे मंडल तक पहुंच जायेगा। यहांतक कि संस्कारका एक पन्नातक भी इससे प्रभावित हुए गिना न रहेगा। चाहे वह किसी सुदूरतम पर्वतकी गहरी गुफामें ही क्यों न हो। जैसा कर्म होगा उसका वैसाही प्रभाव अवश्य होगा। परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि साधारण कर्मसे असाधारण फल मिल जाये।

किसी कामके लिये जयतक कोई तरीका या रास्ता प्रचलित रहता है तबतक इस कामके पूर्ण होनेमें कठिनता नहीं होती और प्रत्येक मनुष्य सुगमतया उसे पूर्ण कर सकता है। परन्तु जब वह तरीका मिट जाये अथवा रास्ता गुम हो जाये और उसे मिटे या गुम हुए क्षताब्दियां नहीं प्रत्युत सहस्रों वर्ष बीत जायें, इस समय वह काम पूरा होना कितना कठिन होता है इनका अनुमान लगाया जा सकता है। आज यही अवस्था और बहुतसी घातोंकी तरह, पुंसवन संस्कारकी भी है। अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ११ का प्रथम मंत्र यह है—

शमीमद्रथ आरुढस्तत्र पुंसयनं कृतम्।

तद्वै पुत्रस्य वेदनं स्त्रीष्वामरानसि ॥ (अथर्व० ६/११/१)

इसका भावार्थ यह है कि “शमी अर्थात् जंजी (पंजाबी नाम है वृक्षका) पर बड़ा हुआ पीपल पुंसवनका कारण है। यह ही पुत्रको प्रगट या पैदा करनेवाला है, उसे स्त्रियोंमें भरना या प्रविष्ट करना चाहिये।”

बहुतसे ऐसे वृक्ष होते हैं जिनपर कौबो या अन्य जीवधारियोंकी विष्टाके द्वारा अथवा किसी और प्रकार किसी दूसरे वृक्षके बीज गिरकर उग जाते हैं। लोगोंने प्रायः ऐसे वृक्ष देखें होंगे जो पृथिवीपर नहीं प्रत्युत किसी दूसरे वृक्षपर उत्पन्न हो जाते हैं। प्रायः पीपल ही दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ पाया जाता है।

कोई भी ऐसा वृक्ष हो जो किसी दूसरे वृक्षपर उत्पन्न हुआ हो वन्दा या वन्दा कहाता है। संस्कृत-भाषाके अवतक इसके ३० नाम मारुम हो

सके हैं। इन नामोंमेंसे इसका एक नाम "पुत्रिणी" है जिसके अर्थ पुत्रवाला या पुत्र देनेवाला होते हैं। "पुत्रिणी" शब्दसे लोग धोखा न खायें। यह देखकर कि इसमें शब्द पुत्री आया है पुत्र नहीं। पुत्रीके अर्थ जहां पुत्री अर्थात् कन्याके होते हैं वहां पुत्रीके अर्थ पुत्रवाला भी होते हैं। जैसे धनवालेको धनी, गुणवालेको गुणी, भानवालेको भानी, अभिमानवालेको अभिमानी, कामवालेको कामी, क्रोधवालेको क्रोध, और लोभवालेको लोभी कहते हैं। इसी तरह पुत्रवालेको पुत्री कहते हैं। पुत्री और पुत्रिणी एक ही अभिप्राय रखते हैं। आयुर्वेदके वर्तमान जितने भी ग्रंथ मिलते हैं उनमें कहीं भी यह नहीं लिखा कि बन्दा या बन्दा पुत्रको देता है, सिवाय इस नामके यह नाम निष्प्रयोजन नहीं है। इतना संकेत काम करनेके लिये पर्याप्त है। वेद स्पष्ट कहता है और आयुर्वेदमें इसका संकेत उपस्थित है, मार्ग साफ है-

अब मैं अपना अनुभूत किया हुआ परीक्षण जो अभी तक रहस्य रूपमें रहा है, प्रगट करता हूँ जिसके जी में आये वह बेखटके इससे लाभ उठाये। यदि किसीको जंगलमें या ग्राम आदि के समीप किसी जंड़ी (शमी) के पृष्ठपर-तनेपर या शाखापर पीपलका छोटा या बड़ा पौधा लगा हुआ मिल जाये, तो उसे खसाट काट कर ले जाना चाहिये। उसे छायामें शुष्क करके उसके छिलके पत्तों और यदि कुछ जड़ भी साथ हो तो जड़के छिलकोंको महीन पीसकर कपडढानकर रक्खें। अच्छा तो यही है कि गर्भाधानसे पूर्वही प्रातः-काल तथा सायंकाल तीन तीन माशा यदि खुश्की मालूम हो तो दो दो माशा गौके गर्भ दूधके साथ स्त्रीको खिलायें। यह न हो सके तो गर्भाधानके पश्चात्। यदि किसी तरह यह समय भी निकल जाये तो तीसरे मासके प्रारंभमेंही साठ दिन इसे अवश्य खिलायें, पुत्र पैदा होगा। यह स्मरण रहे कि गर्भका काल मालूम करनेमें भूल न रहे। यदि तीन मास कुछ दिन आगे निकल गये होंगे तो इससे अभिप्राय सिद्ध न होगा।

इसे एक और विधिसे भी प्रयुक्त किया जा सकता है। उपर्युक्त जंड़ी (शमी) के वृक्षपर डगे हुए पीपलको काटकर छोटे छोटे टुकड़े कर लें। जितने ये टुकड़े हों उनको ८ गुणा (जैसे सेर टुकड़ोंको ८ सेर) पानीमें भिगो दें। ४८ घंटेके पीछे नरम आंचपर उबालें। जब तीन भाग पानी जल जाये तब उतार लें। ठंडा होनेपर कपड़ेमेंसे छानकर दो बारा नरम आंचपर पकायें। जब शदहकी तरह गाढा हो जाये तब उतारकर ठंडा होनेपर किसी चिकने या घीशेके पात्रमें डालकर रख छोड़ें। एक एक रसि प्रातः सायं पूर्वोक्त विधिसे सेवन करावें। इसी उद्देशके लिये अथर्ववेदमें एक और मंत्र आया है, वह यह है—

“पुमान् पुंसः पारिजातोऽश्वत्थः खादिरादधि।”

(अथर्व० ३। १। १)

इसका यह अभिप्राय है कि खैर (खादिर) के वृक्षपर चढ़े हुए पीपलसे पुष्टिग वस्त्रा उत्पन्न होता है। खैर कीकरसे मिलता शुलता पेड़ है, इससे करया बनाया जाता है। इसपर चढ़ा हुआ या डगा हुआ यदि पीपलका पेड़ मिल जाये तो इसे लाकर उपरोक्त मात्रासेही सेवन करना चाहिए, पुंसवन होगा, अर्थात् सन्तान पुत्र होगी। यह मंत्र संस्कारविधिमें नहीं है, इससे पहिले मंत्र पार्श्वोके मुखोंसे कईबार सुना होगा। यदि इन मंत्रोंको केवल तीर्थोंकी तरह कभी कभी बड़ छोड़नाही पर्याप्त न समझा जाकर इनके अभिप्रायको समझनेकी कोशिश की जाय करे तो संसारका कितना कल्याण हो सकता है और वेदोंका मान लोगोंके दिलमें कितना बढ सकता है, इस एक विषयसेही अनुमान लगाईये।

जिन लोगोंके दिलमें वेदोंके लिये कोई लगन हो उनके परम भाग्य बढाना चाहिये। जबानी जमाखर्च काफी हो चुका, वेदोंकी स्तुतिमें काफी गीत गायें जा चुके। अब वेदोंके गौरवको स्थिर रखनेके लिये वेदोंसे कुछ प्राप्त करके, सांप्रदायिक झगड़ोंकी पर्वाह न करके, तथा देश तथा जातिके संकुचित विचार छोड़कर, लोगोंको लाभ पहुंचाना चाहिये।

है ! इसका यही उत्तर है कि, हाँ बहुतसे ऐसे रोग हैं, जिनसे खून बढ़ता है । अथवा खूनका आवश्यकतासे अधिक होना भी एक रोग है, जिस प्रकार कि चर्बीका आवश्यकतासे अधिक होना रोग है इत्यादि । बहुतसे रोग हैं जो मनुष्य शरीरमेंसे खूनको पीते हैं, या खूनको गिराते हैं । संस्कृतमें "पाषक" अग्निका नाम है, इसके अर्थ "पवित्र करनेवाला या पीनेवाला" होते हैं । पित्तमें भी अग्नि प्रधान है । आयुर्वेदमें इन रोगोंका नाम "रक्तपित्त" है, जिनमें कि किसी प्रकार या किसी मार्गसे शरीरसे खून बाहर निकलता हो । नाक, कान, आँख, मुँह, गला, फेफड़े, मूत्र या गुद्द्वारसे खूनका जाना या शरीरके रोम कूपोंसे रक्तका निकलना " रक्तपित्त " कहता है । इस मंत्रमें " असृक्-पावानम् " शब्द ठीक रक्तपित्तके अर्थ देता है । अथ, बवासीर खूनी, खूनके अतिसार, नकसीर जाना, स्त्रियोंका रक्त प्रदर, अथवा मनुष्योंका मूत्रमार्गसे खून जाना, यह सब रक्तपित्तके अन्तर्गत है । येही रोग हैं, जो खूनको पीते हैं । यही रोग हैं, जिनमें कि खून बढ़ नहीं सकता । यहाँ केवल संकेत मात्रसे इस मंत्रका भावार्थ बतला दिया जाता है, भासा है कि गुणग्राही इस मंत्रसे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे । यह मंत्र बतलाता है कि " असृक्-पावानम् " या रक्तपित्त रोगको पृथ्वीपणी दूर करती है ! कैसे ? यह वैद्योंका काम है, कि वह परीक्षण करके पता लगावें ! आयुर्वेदके नये या पुराने वर्तमान ग्रंथोंमें एक जाधा छोड़कर जिन्होंने कि पृथ्वीपणीको केवल खूनके दस्तोंको ही या छठे महीनेके गर्भपातको दूर करनेवाली किखा है और किसीने इस वेदमंत्रके अर्थको सिद्ध नहीं किया ! यह आवश्यक भी नहीं है, जिन बातोंको वर्तमान आयुर्वेदिक ग्रंथोंमें न लिखा हो, वेदोंमें भी उनका वर्णन न हो; यदि हम यत्न करें और परिश्रम करें, तो इस समय भी वेदोंके सहारे वर्तमान- आयुर्वेदिक ग्रंथोंसे अधिक बड़ा ग्रंथ तैयार कर सकते हैं । परंतु यह किसी एक व्यक्तिके करनेका काम नहीं, बहुतसे वैद्यों या पंडित-वैद्योंकी मिली हुई शक्तिसे हो सकता है । अब केवल वे योग किसे

जाते हैं अथवा पृश्निपर्णीके उपयोग की विधि लिखी जाती है जिससे कि "असृक्—पाथानं" का रक्तपित्त रोग दूर हो सकता है ।

(१) पृश्निपर्णीको पानीमें पीसकर लेपकर दीनिष्ट और छः मासे पृश्निपर्णीको पानीमें धोकर सावधान पिलायें, नकसोरका जाना बंद हो जायगा, चाहे कितनी ही देरसे हो ।

(२) अनुपानके कारण औषधिकी शक्ति प्रायः बंद जाया करती है और अनुपानसे औषध हीन प्रभावकारी हो जाया करती है । हमलिये यद्वा मित्र भिन्न रोगोंके लिये पृश्निपर्णीका अनुपान भी लिख दिया जाता है ।

छ मासे पृश्निपर्णी, एक मासा काली मिरचके साथ प्रातःसाय पानीमें पीसकर पिलाये, बवासीरका जाना हुआ खून रुक जायगा और कोई कष्ट न होगा, कुछ कालके पश्चात् बवासीर खूनी जहसे दूर हो जायेगी । यह दवाई प्रत्येक ऋतुमें प्रयोग की जा सकती है, आवश्यक पक्ष अनिवार्य है ।

(३) पृश्निपर्णी ६ मासा, वासकि पत्ते ३ मासा, पानीमें रगड़कर प्रातः और साय पिकाईये, गलेसे खून जाना, यक्ष्मा, दूर हो जायेगा, खूनकी बमन जाती हो, तो भी इससे लाभ होगा, सक्तसे सक्त बुखार, कालीमें यह दवाई रामबाणका काम करेगी । यक्ष्माके विराश रोगियोंको भी एक बार इस औषधिके प्रयोगसे लाभ उठाना चाहिये ।

(४) पृश्निपर्णी ६ मासा + बलापत्र ६ मासा + काली मिरच २ मासा, प्रातः सायकाल पानीमें रगड़कर पिलानेसे स्त्रियोंका रक्त प्रदर, तथा भ्रम्य रजोविकार दूर हो जाते हैं ।

(५) पुरुषोंके सूक्ष्मद्रासे जाना हुआ रक्त भी छ छ मासे पृश्निपर्णीको दिन में तीन बार पानीमें पीसकर पिलानेसे दूर हो जाता है ।

(६) पृश्निपर्णी ६ मासा + विळगिरी ६ मासा, प्रातः साय पानीमें रगड़कर पिलायें, जो खूनके दूध और खूनी स्त्रग्धणी बंद हो जाती है ।

(७) और भी किसी तरह शरीरसे खून जाता हो तो केवल पृष्टपर्णी-को पानीमें रगड़कर पिलानेसे बंद हो जाता है। मत समझिये कि किसी दूसरी वस्तुके साथ मिलकर ही पृष्टपर्णी उपरोक्त या इसी प्रकारके अन्य रोगोंको छान पहुंचाती है। प्रत्युत अकेली पृष्टपर्णी भी वही काम दे सकती है जैसा कि इस मंत्रमें लिखा है।

इस वेदमंत्रमें लिखा है, कि पृष्टपर्णी इन रोगोंको भी दूर करती है जो कि मनुष्य शरीरको बढ़नेसे रोकते हों, यों तो ऐसा बहुतसे रोग है जो मनुष्य शरीर बढ़ने नहीं देते। परंतु यहां उन सबका वर्णन और उन सबका पृष्टपर्णीके द्वारा इलाज लिखना कठिन है; इसलिये साधारण रीतिपर इन रोगोंका वर्णन कर देनाही पर्याप्त मालूम होता है जिनसे कि मनुष्य शरीर बढ़नेसे रुक जाता है। वैद्यलोग इससेही बहुत कुछ लाभ उठा सकेंगे। बच्चोंका सूखना, बच्चा पैदा होनेके पश्चात् पहिला रोग है और बड़ा रोग है जो बच्चोंको बढ़ने नहीं देता और कि अनगिनत बच्चोंको मृत्युके मुहमें ले जाता है। पृष्टपर्णी बच्चोंके इस रोगको दूर करती है। बच्चोंको और बच्चोंको दूध पिलानेवाली स्त्रीको पृष्टपर्णीका उचित मात्रामें प्रयोग करना चाहिये। तथा च—

यदि किसीका अग्नि मंद होगया हो, भूख कम लगती हो, या खाई हुई सामग्री पूरी न पचकर शरीरका भाग न बनती हो, या भोजनका रस न बनता हो, तो शरीर नहीं बढ़ सकता। ऐसे कितने रोग हैं, जिनमें मनुष्यकी पाचनशक्तिकी ऐसी दशा हो जाती है, इन सबको मालूम करनेके पश्चात् उन सबमें ही पृष्टपर्णीका प्रयोग करायें, अग्नि प्रबल होगा, भूख खूब लगेगी, खाया हुआ भोजन पचन होकर शरीरका भाग बन जायेगा। या शरीर मोटा ताजा होता जायेगा।

शरीरमें खाने हुये भोजनसे रस खूब बन रहा है, परंतु रससे खून बनानेवाले अवयव जिगर और तिछी आदि खराब हो, खून अच्छी तरह न बनता हो, तो शरीर भी बढ़ न सकेगा। ऐसी दशामें भी पृष्टपर्णी कामप्रद सिद्ध होगी। जिगर और तिछीकी दुर्बलता दूरकर देगी।

जिससे शरीरकी आवश्यकतानुसार खून पर्याप्त उत्पन्न होगा। खूनसे मांस न बनता हो, मांससे खरबी न बनती हो, खरबीसे हड्डी न बनती हो, हड्डीसे मज्जा न बनती हो और मज्जासे धीर्य न बनता हो, तब भी आप पृष्ठपर्णी ही का सेवन कीजिए। पृष्ठपर्णी इन सब कष्टोंको निवृत्त कर देगी। पृष्ठपर्णी धीर्यको बढ़ानेवाली वस्तु है। जो लोग धीर्यको किसी प्रकार भी नाश कर नपुंसक हो बैठे हों, उनको पृष्ठपर्णीकी शरणमें जाना चाहिये। पृष्ठपर्णीका अनवरत सेवन उसको धीर्यवान बनावेगा इसपर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परंतु इसे ही पर्याप्त समझना चाहिये।

वेदमंत्र बतलाता है, जो रोग गर्भको खानेवाले हों, पृष्ठपर्णी इनको दूर कर देती है। कितने ही कारण हैं, जिनसे गर्भ पाया जाता है या गर्भछाव या गर्भपात हो जाता है। यदि किसी समय गर्भछाव या गर्भपातका भय हो और ऐसे लक्षण दिखाई देते हों, जिनसे कि गर्भका खूनकी रूपमें बह जाना या गिर जाना पाया जाता हो, तब स्त्रीको पृष्ठपर्णी पानीमें पीसकर थोड़ी थोड़ी देर पीछे थिलाईये। और पृष्ठपर्णीका पानीमें पीसकर पेट और मसानेपर छेप कीजिये। आई हुई आफत टल जायगी। यदि सदा किसी स्त्रीका गर्भ गिर जाता हो उसे उस समय जबकी गर्भ न ठहरा हो पृष्ठपर्णीका लगातार प्रयोग कीजिये। इससे जब भी गर्भ ठहरेगा तब गर्भ न गिरेगा। गर्भकी अवस्थामें भी इसका उपयोग कराते रहना चाहिये।

स्त्री वन्ध्या हो, तो भी उसे पृष्ठपर्णीका सेवन कराईये। कुछ काळमें गर्भको रोकनेवाली काराबी दूर हो आयगी। कड़का होगा या कड़की इसपर विवाद कानेकी आवश्यकता नहीं। केवल यह लिखना पर्याप्त है कि पृष्ठपर्णी वन्ध्यापनको दूर करती है।

वेद बतलाता है कि जो रोग गर्भको पकड़ रखता हो, प्रहज कराता हो, उसे भी पृष्ठपर्णी दूर करती है। वह कौनसा रोग जो गर्भको पकड़ रखता है। हम देखते हैं कि बहुतसी गर्भवती स्त्रियोंको, कारण पाकर महीने दो महीनेके पीछे खून जाना प्रारंभ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस तरह कि मासिक धर्मका, यद्यपि इससे गर्भ गिरता नहीं, परंतु गर्भ बड़ भी

नहीं सकता। एक दो महीने यह रक्त बंद हो जाता है। और गर्भका बालक कुछ बढ़ता है। फिर रक्त बहना प्रारंभ होकर बच्चेकी गर्भमें उबलित रुक जाती है। इसी प्रकार कभी रक्त प्रारंभ होकर, कभी बंद होकर दो दो बार बार धरसतक बच्चा गर्भ ही में रहता है, इसका नाम है गर्भका पकड़ा जाना। इस वेद मंत्रमें “गर्भाद्” शब्द है। इसके अर्थ हैं गर्भको लावेवाला, या गर्भको गिरानेवाला और गर्भको पकड़ने या ग्रहण करनेवाला। यह तो लिखा जा चुका है कि पृथिवीर्णी गर्भको गिरनेसे रोकती है। जहाँ पृथिवीर्णी गर्भ गिरनेसे रोकती है वहाँ पृथिवीर्णी पकड़े हुए गर्भको छुड़ा देती है। अर्थात् इसके उपयोगसे गर्भके दिनोंमें मलिक रक्तका जारी होना बंद होकर, समयपर या यदि समयके पीछे पृथिवीर्णीका प्रयोग किया जाये, तब भी यथा सर्वसंपूर्णतः उत्पन्न हो जाता है। बच्चा उत्पन्न होनेके समय स्त्रीको कष्ट अधिक हो और बच्चा पैदा न होता हो, उसे भी “गर्भाद् रोग” कह सकते हैं, ऐसी अवस्थामें पृथिवीर्णीका प्रयोग करनेसे अर्थात् घीके साथ खिलानेसे या गर्भपाणीमें उयालकर खिलानेसे पानीमें पीसकर पेटपर लेप करने और पृथिवीर्णीकी जड़ोंकी कमरमें बांधनेसे, या पृथिवीर्णीको जलाकर इसकी धूनी देनेसे बच्चा शीघ्र और बिना कष्ट उत्पन्न हो जाता है। यदि बच्चा गर्भमें उलटकर बाहिर निकलनेके अयोग्य हो गया हो, तब भी पृथिवीर्णीके प्रयोगसे बच्चा ठीक तरह उत्पन्न हो जायेगा।

गर्भमें बच्चा मर गया हो और बल लगानेपर भी बच्चा बाहिर न जाता हो तब भी पृथिवीर्णीके उपयोगसे बच्चा बाहिर आ जायगा। और स्त्रीको मृत बच्चेके कारण कोई कष्ट न होगा।

यदि हम इस मंत्रपर कुछ देर और विचार करें, तो संभव है, इससे भी अधिक अर्थ लाभ हो सके और यह मालूम हो जाये, कि सिवाय इसके गर्भाद् और किन किन रोगोंका नाम हो सकता है। जिनको कि पृथिवीर्णी दूर करती है। धातुक्षय हो या क्षयरोग हो, जो कि शारीरिक वृद्धि रोकनेमें प्रसिद्ध रोग है, पृथिवीर्णीके सेवन करनेसे दूर हो जाता है। पृथिवीर्णीके प्रयोगसे दुबले पतले, और निर्बल शरीर और माक्षिक बलवान हो जाते हैं।

इन्द्र और नमुचि

(लेखक- पं. श्वजारामजी आर्य, वैद्य-पटियाला)



“अर्षां फेनेन नमु चेः शिर इन्द्रोद्वर्तयः ।

धिश्वा यदजयः स्पृधः ” ॥

अग्न मंडल ८ सूक्त १४, मंत्र १३॥ यजु. अष्टाध्याय १९, मंत्र, ७१ ॥
सामवेद पूर्वार्धिक प्रपाठक ३, दशवी २, मंत्र ८ (२१२) ॥ अथर्व. काण्ड १०,
सूक्त २९, मंत्र ३) इसका शब्दार्थ यह है कि—

“हे इन्द्र । अर्षां फेनके साथ नमुचिका सिर कुचल दे । या मरोट दे,
या अलग कर दे और गिरोघको जीत” ॥

“नमुचि” कौन है जिसका सिर कुचलनेके लिये इन्द्रसे प्रार्थना या
नियेदन किया गया है, या इन्द्रको कहा गया है । इन्द्र कौन है ? या क्या
बीज है ? “अर्षां फेन” कौनसा हथियार है, जिसके साथ कि इन्द्र नमुचि-
का सिर कुचल या काट सकता है ।

यह मंत्र भी जो कि ऊपर दिया गया है, आयुर्वेदभेदी संबंध रखता है ।
परंतु समय केरसे, दूसरे बहुतसे वेदमंत्रोंकी तरह, इसके गलेमें भी व्यर्थ
कहानियोंका मुद्दा साँप घट गया ।

जबतक कि इस शयको इसके गलेसे निकालकर फेंके नहीं फेंक दिया
जाता, तबतक इस मंत्रकी उज्ज्वल और पवित्र मूर्तिके माध्यात् दानन
असंभव हैं । इसलिये कुछ कालके लिये क्या कहानियोंको मुछाकर
शब्दार्थभेदी भाषार्थकी जाननेका यत्न करें ।

“नमुचि” भी रोग या बीमारी है, जिसे इन्द्र ही दूर करता है । यारह
आदिश्लोमें सूर्यका एक नाम “मुच” है और यही नाम इन्द्रका भी महेश्वर

है। “हरि” इन्द्रका भी नाम है और सूर्यका भी। “दिवस्पति” इन्द्रका भी नाम है और सूर्यका भी है। देखिए शब्दकल्पद्रुम आदि संस्कृतके कोष। “शब्दस्तोम महानिधि” के पृष्ठ ६८० पर इन्द्र सूर्यका भी नाम है। निरुक्त (नियण्डु) अध्याय ५, खण्ड ४ में सविता जो सूर्यका नाम है वही इन्द्रके लिये आया है। अथर्ववेद काण्ड १३, सूक्त ३, मंत्र १३ में लिखा है कि—

“स धरुण सायमग्निर्भयति । स मित्रो भवति प्रातर्दधन् ।
स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति । स इन्द्रो भूत्वा तपति
मध्यमे दिवम्” ॥ (अथर्व. १३।३।१३)

अर्थात् वह करुण सायंकाल अग्नि होता है और प्रातः काल उदय होता हुआ मित्र होता है। वह आकाशमें सविता होकर चलता है और इन्द्र होकर ध्रुलोकमें तपता है, या दिनके मध्यमें या दोपहरके समय।

यह स्पष्टरीतिसे दोपहरके सूर्यका नाम “इन्द्र” लिखा है। जिस प्रकार एक मनुष्यको आयुकी दृष्टिसे बच्चा, जवान और बूढ़ा कह सकते हैं और कहा जाता है, इसी प्रकार “सूर्य भी भिन्न भिन्न समयोंमें अग्नि, मित्र, सविता और इन्द्र कहलाता है।”

इन्द्र नाम सूर्यका भी है, इसके लिये अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं क्योंकि वेदके माननेवालोंमें वेदसे यहकर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

सूर्यके जहां और बहुतसे नाम हैं वहां “अर्क” भी सूर्यका एक नाम है। जहां ‘अर्क’ सूर्यका एक नाम है, वहां आकको भी ‘अर्क’ कहते हैं। आक पंजाबमें महानूर पौधा है। आकके संस्कृतभाषामें ये नाम भी हैं, अर्थात् ‘अर्क’ भास्कर, विभस्वान, अर्यमा, अहर्पति, उष्णराश्मि, भानु, प्रभाकर, विभाकर, विभासु, सप्ताश्व, सविता और रवि आदि। “ये सय नाम ही सूर्यके हैं।

आयुर्वेदमें आक और सूर्य एकही नाममें आये हैं। जो नाम सूर्यके हैं वे सब आकके भी हैं। आक और सूर्यमें भिन्नता भी है। अर्थात्-तेज गरमी-के दिनोंमें जबकी धूपमें घरती परबंगा पैर रखना कठिन होता है, घरती और आकाश गरमीकी शकल (रूप) धारण करते हैं, गरम और चन्दि-सदृश रेतमें आकके पौधे हरेभरे और दूध या रससे भरे हुए तथा सर्वांग संपूर्ण होते हैं। फल, फूल, पत्ते, ताला, और जब ये सारे अंग रसदार होते हैं। पर्यन्त आरंभही आक जलना, भुरझाना और शुष्क होना प्रारंभ हो जाता है। घरमातके दिनोंमें आक बेजान (निष्प्राण) हो जाता है। किसी हिन्दीके कविने कहा है कि—

‘आक, जहाँसा बकरा चोखा गाडीवान
ज्यों ज्यों घरसे मेघला, त्यों त्यों त्यजे प्राण ॥”

अर्थात् “आक, जहाँसा (घरमासा), बकरा, तथा बैलगाडीवाला इन चारोंकी यह भिन्नता होती है कि, ज्यों ज्यों मेघ बरसता है त्यों त्यों वे प्राणही छोड़ते हैं।” जहाँसा भी प्रसिद्ध पौधा है, वह भी तेज गरमीमें फलता और फूलता है, बकरी तेज गरमीमेंही सुख रहती है और दूध दूध देती है। कहा जाता है कि ज्यों ज्यों बकरीके खर बपते हैं, त्यों त्यों इसका दूध बढ़ता है, वर्षाके आतेही बकरियोंका दूध भी शुष्क हो जाता है।

आक और सूर्यका संबंध है। गरमीसे आक फलता और फूलता सर्वांग संपूर्ण या रसदार होता है। सविता इन्द्रका नाम है, सविता सूर्यका नाम है और सविता आकका नाम है। “आक और इन्द्र एक ही अर्थके देने-वाले हैं।”

उपरोक्त वेदमंत्रमें आये हुए “इन्द्र” शब्दके अर्थ “आक” करनेके पश्चात् यह मालूम करना भी आवश्यक है कि “अपां फेन” क्या वस्तु है जिसेके साथ इन्द्र नमुषिका सिर काटता है।

“अपां फेन” का अभिप्राय समझनेके लिये अधिक जगहमें पढ़नेकी आवश्यकता नहीं, इसका प्रसिद्ध नाम है “समुद्र-माग” अर्थात्को कया

कहानियोंके आवरण उतारकर उपरोक्त वेदमंत्रका यह अर्थ किया जा सकता है। कि—

“आक समुद्रप्रागके साथ नमुचिका सिर कुचलता है या दूर करता है।”

नमुचि क्या पदार्थ है ? अब केवल यह देखना अवशिष्ट है। संस्कृतके कोषोंमें नमुचि एक असुरका नाम लिखा हुआ मिलता है, जिसको इन्द्र नामी देवताके राजाने मारा था। इससे अधिक और कुछ पता नहीं चलता। नमुचिका शब्दार्थ क्या है, यह किसीने नहीं बताया। क्योंकि इस शब्दके सामने आतेही सबसे पहिले राक्षसकी ओर ध्यान जाता है। नमुचिके दो अर्थ होते हैं। (दो केवल इसी लिये कहा गया है कि, इस समयतक कोई तीसरा अर्थ विदित नहीं हो सका है। संभव है कि इसके और भी कई अर्थ हो सकते हों।) “न-मुचि” इसके दो अर्थ एकही अभिप्रायके देनेवाले होते हैं। एक “न मुच्यति” अर्थात् जो नहीं छोड़ता उसे “नमुचि” कहते हैं, दूसरे “न मुच्यते” जो छूटता नहीं वह भी “नमुचि” कहलाता है। अर्थात् नमुचिका यह अर्थ हुआ “जो नहीं छोड़ता” और “जो नहीं छूटता”। इन दोनों बातोंका एक ही अभिप्राय है कि जो दूर न हो सके, वह नमुचि है इस अर्थसे यह पता नहीं लगता, कि वह कौनसी बीमारी है। जो दूर नहीं हो सकती। और कि जिसका नाम नमुचि है। वर्तमान आयुर्वेदिक ग्रंथोंमें किसी भी बीमारीका नाम नमुचि नहीं पाया जाता। हाँ ऐसे बहुतसे रोग हैं, जो रोगीको नहीं छोड़ते, या रोगीसे नहीं छूटते, उन सबको नमुचि कह सकते हैं। अर्थात् आयुर्वेदके वर्तमान ग्रंथोंमें जिन रोगोंको असाध्य कहा गया है, उन सबका नाम “नमुचि” रखा जा सकता है।

परन्तु इसपर एक अत्यन्त मुख्य आक्षेप हो सकता है, वह यह कि यदि नमुचि उन रोगोंका नाम है, जो असाध्य हैं, तो फिर आक और समुद्रप्रागसे भी क्या कर दूर हो सकते हैं ? यदि वह आक और समुद्रप्रागसे दूर

हो जाये, तो फिर इनको नमुचि या असाध्य नहीं कहा जा सकता। यह आक्षेप न केवल इसी स्थानपर हो सकता है, प्रत्युत आयुर्वेदमें बतलाये हुए बहुतसे रोगोंकी चिकित्सापर भी हो सकता है। जहां एक ओर तो किसी रोगको असाध्य बतलाया है दूसरी ओर उसकी चिकित्सा भी लिख दी है। इसका यह अभिप्राय भी हो सकता है कि, संसारमें कोई रोग असाध्य नहीं ! हां, बहुतसे रोग साधारणतया असाध्य कहलाते हैं। या सामान्यतया वास्तवमें वे असाध्य होते हैं। परंतु विशेष रूपसे उनकी भी चिकित्सा हो सकती है। जिस सीमातक उनकी चिकित्सा नहीं हो सकती उस सीमातक उनको असाध्य या "नमुचि" कह सकते हैं। दृष्टान्तके लिये "मधुमेह" का नाम लिया जा सकता है। एक ओर तो इसे असाध्य कहा गया है, दूसरी ओर इसकी चिकित्सा बताई गई है, यह कहकर कि इस दवाईसे यह रोग दूर हो जाता है। इन दोनों बातोंमें धरती और आकाशका अन्तर है। वस हम आक्षेपका-जो न केवल इस मंत्रपर भी किया जा सकता है, प्रत्युत आयुर्वेदिक बहुतसे ग्रंथोंपर भी हो सकता है कि रोग असाध्य या नमुचि है तो इसका किसी भी दवाई और चिकित्सासे दूर होना संभव नहीं और कि यदि रोग दूर हो सकता है, तो उसको नमुचि या असाध्य नहीं कह सकते-यही उत्तर हो सकता है, कि आयुर्वेद या वेदकी परिभाषामें नमुचि या असाध्य उभी रोगको कहा जाता है जो कि सामान्यतया अचिकित्स्य हो, जो रोग सामान्यतया अचिकित्स्य होते हैं।

"इन्द्र" अर्थात् आक समुद्रशागके साथ क्या इन सब रोगोंको दूर कर सकता है कि जिनको असाध्य कहा गया है, या सामान्यतया अचिकित्स्य कहा गया है। इसका उत्तर वेदपर विश्वास रखते हुए यह दिया जा सकता है, कि हां आक और समुद्रशाग (समुद्रफेन) से यह सब रोग दूर हो जाते हैं जिनको कि सामान्यतया असाध्य माना जा सकता है। यद्यपि अपनी अल्पज्ञान और निर्बलताके कारण यह न बतलाया जा सकता हो,

कि किस किस रोगमें किस किस तरह इन दोनों वस्तुओंका उपयोग करनेसे लाभ होता है।

उपर यह बतलाया जा चुका है कि नमुचिके दो अर्थ होते हैं। उनमेंसे एक यह बतलाया गया है कि, जो रोग नहीं छोड़ता या नहीं छूटता; या दूर नहीं होता या सामान्यतया असाध्य या अधिकस्थ है उसे नमुचि कहते हैं। दूसरे नमुचि 'नम्-उचि' के अर्थ हैं नीचा और उंचा। क्या नीचा और उंचा या नीचा या उंचा भां कोई एक बीमारी है?

मानव शरीरमें बहुतसे ऐसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो नीचे होते हैं और उंचे होते हैं और ऐसे भी रोग होते हैं जो नीचे और उंचे दोनोंई प्रकारके होते हैं। शरीरके किसी भागमें अपनी वास्तविक दशासे नीचा या उंचा हो जाना भी नमुचि कहलाता है। रसौली शरीरकी वास्तविक तरहसे ऊंची होती है आक इसे दूर करता है।

एकदमरके मस्से शरीरकी वास्तविक दशामें उंचे होते हैं, भगंदरका फोड़ा शरीरसे ऊंचा या ठमरा हुआ होता है। इसकी गहराई होती है। गहरेमें गहरे घण और नाही घण (नासूर) ऊंचेमें ऊंचे फोड़े और मस्से, कण्ठमाला या गण्डमाला, कोठ, सूजन आदि रोग नमुचि होते हैं।

उपरोक्त वेदमंत्रमें एक शब्द 'उदयत्तयः' भी है, जिसका अर्थ कुचलना, मरोड़ना या अलग करना भी है। कोषमें इस शब्दके अर्थ बहुतसे हैं। तथा प्रकाश करना (फैलाना), विभाग करना, टुकड़े करना, तोड़ना, फाँटना आदि, प्रस्ट करना, ऊंचा करना, रींचना, घलवाना करना, बाधना, रोकना, छोड़ना, आदि, इन सब अर्थोंको सामने रखते हुए इन वेदमंत्रका यह अभिप्राय हो सकता है कि—

“आक समुदफेन (समुदक्षाय) के साथ उपरोक्त नमुचि कहलानेवाले रोगोंमें, यदि दूबे हुए हों, दूध न हों तो प्रकाशित करवा है। यदि फैलानेकी आवश्यकता हो तो फैलाना है, फाँटना है, यदि घण गहरे हों

तो भरता है या झंका करता है, यदि पीप आदि अंदर हो तो बाहिरकी ओर खींचता है । यदि किसी अंगमें निर्मलता या अशक्ति हो, तो उसे दूर करता है। यदि रोग संसर्गजन्य अर्थात् एकसे दूसरेमें जानेवाला हो तो उसे भी रोकता है, आदि ।

“उद्वर्त्तयः” से मिलता जुलता शब्द “उद्वर्त्तन” है जिसका विगडकर ‘उद्वटन’ बना है । इसके अर्थ भी मिलनेके हैं, इस शब्दका विगडकर “वटना” बन गया है । इसका अभिप्राय मद्दोडना या बल देना भी होते हैं, किसी घास या छिलकेके रेशे (तन्तु) को मद्दोडकर रस्सी बनानेको ‘वटना’ कहते हैं । हाथ या उगालियेसे किसी दवाईको मद्दोडकर गोली बनाते हैं । संस्कृतमें उसे ‘वटी’ या ‘वटिका’ कहते हैं । इसका भी अभिप्राय यह है अर्थात् जो बडकर या मद्दोडकर बनावई गई हो वह वटी वटीसे बडी बन गया । बाँडियाँ महशूर हैं । उद्वटकी दालसे पेठा आवि ढालकर प्रायः अपने घरोंमें बनाइ जाती है । “उद्वर्त्तयः” का अभिप्राय इसीलिये मद्दोडना या कुचलना किया गया है ।

किसीके सरतसे सख्त फोडा हो, बढ हो, या गिरटी हो, भगन्दर हो या घवासीरके भस्से हों, रसौली हो या कण्ठमाला हो, आक और समुद्रसागके लगानेसे फूट जाते हैं । या कुचले जाते हैं । यदि घाव या भासूर गहरे हों तो भर जाने हैं, समान हो जाते हैं । इस सथ रोगोंमें जो नमुचि शब्दके अन्दर आ सकते हैं आक और समुद्रसागका आन्तरिक तथा बाह्य रीतिपर प्रयोग किया जा सकता है । इनके खानसे कुष्ठ, भगन्दर, कण्ठमाला, अशं, बद, स्त्रीपद, फोडे, भासूर, सूजन, दाद, चम्बल आदि बहुतसे रोग दूर हो जाते हैं । विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं ।

चिंकासकगण ! इस खुले संकेतको पाकर पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं । यदि समय मिला तो इस विषयपर इससे भी अधिक लिखा जा सकता है ।

(स्त्रियाः) । सधमल रोगोंको (करुमाः) करनेवाले (ये) जो (गदेभना-
दिनः) गधे सरीखा शब्द करनेवाले (सायं) सायंकालके समय (शालाः)
गो शाला, भोजन शाला, पाक शाला, आदि शालाओंमें (परिनृत्यन्ति)
नाचा करते हैं, (तान्) उन सब (विपूचीनान्) उड़कर लगनेवाले,
रोगोंको लानेवाले, सब कुछ जन्तुओंकी (ओषधे) हे ओषधे ! (त्वम्) तू
(गन्धेन) अपने सुगंधसे (विनाशय) नष्ट कर ॥

वेदकी कैसी उत्तम सौखी है, जिसे विचारशील देखते ही उसकी
महत्ताको समझेंगे। कंसे स्पष्ट और सार्थक विशेषणोंसे उक्त मंत्रोंमें विषय-
को स्पष्ट करनेकी कोशिश की गई है। अब देखना केवल यह है कि, उपरोक्त
विशेषण युक्त उड़नेवाले और रोगोंको करनेवाले कौन हैं।

यदि सूक्ष्म वीक्षण यंत्र (सुर्द्वान) से देखा जावे तो रोगोत्पादक जन्तु-
ओंमें कुछ ऐसे प्राणी हैं, जिनके पंजे पीछेकी ओर (पार्ष्वा) पंकी भागको
और पैट निकला हुआ, सुख-सामनेको - परंतु न अत्यन्त स्थूल जो दृष्टिसे
गोचर हो सकें, ऐसे होते हैं और यह भी निश्चित है और सब ही जानते
हैं कि सूर्यास्तके समय सायंकालके समय अत्यधिक संख्यामें - भोजन शाला
या गोशाला या अन्य ऐसे ही शालाओंके आसपास कान लगाकर ध्यानसे
सुना जावे, तो विचित्र शब्द करते हुए ये ही नाचते हैं। वेद इन छोटे
परंतु भयंकर जन्तुओंसे बचनेके लिए औषधी बतलाते हुए उपदेश करते हैं
कि, इन्हें लोबान, गुग्गुलु आदि औषधियोंकी गन्धसे नष्ट करो जिससे
आप लोग सुखी हो सकें ।

हृदय-रोग तथा कामिला-रोगकी चिकित्सा ।

[ऋषि -ब्रह्मा । देवता—सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः]

अनु सूर्यमुदयतां हृदघोतो हृग्निमा च ते ।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।

यथायमरपा असदयो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

या रोहिणीर्देवत्या गावो या उत रोहिणीः ।

रूपंरूपं वयोवयस्ताभिश्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।

अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

(अथर्व १।२१।१-४)

अर्थ- (ते हृद् घोतः च हरिमा) तेरा हृदयका जलन और पीलापन (सूर्य अनु उदयताम्) सूर्यके पीछे चला जाये । गोके अथवा सूर्यके (रोहितस्य तेन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्टपुष्ट करते हैं ॥ (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये घेरते हैं । (यथा) जिससे (अयं) यह (अरपा असत्) बीरोग हो जाय और (अ-हरितः भुवत्) पीलक रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २ ॥ (याः देवत्या रोहिणीः गावः) जो दिव्य लालरंगकी गोवें हैं (उत या रोहिणीः) और जो लाल रंगकी किरणें हैं (ताभिः) उनसे (रूपं-रूपं) सुन्दरता और (वयः वयः) बलके अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुझे घेरते हैं ॥ ३ ॥ (ते हरिमाणं) तेरे पीलक रोगको (शुकेषु रोपणाकासु च) तोते और पौधोंके रंगोंमें (दध्मसि) धारण करते हैं । (अथो) और (ते हरिमाणं ।) तेरा पीलापन हम (हारिद्रवेषु) हरी वनस्पतियोंमें (नि दध्मसि) रख देते हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ— तेरा हृदयरोग और पीलक रोग सूर्य किरणोंके साथ संबंध करनेसे चला जायगा । लाल रंगकी गौंवे और सूर्यकी लाल किरणें होती हैं, इनके द्वारा नीरोगता हो सकती है ॥ १ ॥ लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है, पीलक रोग दूर होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ॥ २ ॥ लाल रंगकी गौंवे और लाल रंगकी सूर्य-किरणें दिव्य गुणोंसे युक्त होती हैं । रूप और बलके अनुसार उनके द्वारा रोगों घेरा जावे ॥ ३ ॥ इस लाल रंगकी चिकित्सासे रोगीका पीलापन तथा कीकापन दूर होगा और वह हरे पक्षी और हरी यनस्पतियोंमें जाकर निवास करेगा, अर्थात् रोगीके पास फिर नहीं आवेगा ॥ ४ ॥

वर्णचिकित्सा ।

‘यह सूक्त “वर्ण-चिकित्सा” के महत्वपूर्ण विषयका उपदेश दे रहा है । मनुष्यको हृदयका रोग और कामिला नामका पीला रोग कष्ट देते हैं । अपचन, पेटके विकार, तमाखू, मद्यप्राशन आदि अनेक कारण हैं जिनके कारण हृदयके दोष उत्पन्न होते हैं । तरुण अवस्थामें धीर्यदोष होनेके कारण भी हृदयके विकार उत्पन्न होते हैं । कामिला रोग विषके क्षुपित होनेके कारण उत्पन्न होता है । इन रोगोंके कारण मनुष्य कृश, निस्तेज, पीका, दुर्बल और दीन होता है । इसलिये इन रोगोंको हटानेका उपाय इस सूक्तमें वेद बता रहा है । सूर्यकिरणों द्वारा चिकित्सा तथा लाल रंगवाली गौओंके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते हैं और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है ।

सूर्यकिरण-चिकित्सा ।

सूर्य किरणोंमें सात रंग होते हैं अथवा रंगवाली चीशोंकी सहायतासे उष्ट रंगके किरण प्राप्त किये जा सकते हैं । नंगे शरीरपर इन किरणोंको रखनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते हैं । यह रंगीन सूर्य किरणोंका स्नानही है । यह नंगे शरीरसे ही करना चाहिये । छत्रपर लाल रंगके

शीशे रखनेसे कमरेमें लालरंगकी किरणें प्राप्त हो सकती हैं, इसमें नंगे शरीरसे रद्दनेसे यह चिकित्सा साध्य हो सकती है ।

जिस प्रकार उक्त रोगोंके लिये लालरंगकी किरणोंसे चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य वर्णोंके सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा होना संभवनीय है । इसलिये सुयोग्य घैस इसका अधिक विचार करें और सूर्यकिरण चिकित्सासे रोगियोंके रोग दूर करके जनताके सुखको बृद्धि करें ।

परिधारण-विधि ।

सूर्यकिरण-चिकित्सामें “ परिधारण विधिका महत्त्व ” है । इस सूत्रमें “ परि दध्मासि ” शब्द चार बार, “ नि दध्मासि ” शब्द एक बार और “ दध्मासि ” शब्द एक बार आया है । “ चारों ओरसे धारण करना ” यह भाव इन शब्दोंसे व्यक्त होता है । शरीरके चारों ओरसे संबंध करनेका नाम “ परिधारण ” है । जिस प्रकार तालारके पानीमें तैरनेसे शरीरके साथ जलका परिधारण हो सकता है, उसी प्रकार लाल रंगके सूर्यकिरण कमरेमें लेकर उसमें नंगे शरीर रद्दना और शरीरको डलट पुलट करके सब शरीरके साथ लालरंगके सूर्य किरणोंका संबंध करना परिधारण विधिना तात्पर्य है ।

१ रोहितैः वर्णैः परि दध्मासि (मंत्र ७)

२ दीर्घायुत्वाय परि दध्मासि (")

३ गोरौघिनस्य वर्णेन त्वा पारे दध्मासि (मं. १)

४ तामिष्ट्वा परि दध्मासि ॥ (मं. ३)

ये सब भाग रक्त वर्णके सूर्यकिरणोंका स्नान अर्थात् “ परिधारण ” करनेका विधान कर रहे हैं । रोगीको नंगे शरीर पूर्वोक्त रक्त वर्णके शीशेवाले कमरेमें रखने और उसके शरीरका संबंध रक्त वर्णके सूर्य-किरणोंके साथ करनेसे यह परिधारण हो सकता है और इससे निरोगता,

दीर्घ आयुष्यप्राप्ति तथा बलप्राप्ति भी हो सकती है। अन्यान्य रोगोंके निवारणके लिये अन्यान्य वर्णोंके किरणोंके स्नानोंकी योजना करना चतुर वैद्योंकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है।

रूप और बल ।

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिधारणविधि अथवा किरण स्नान करना योग्य है यह सूचना तृतीय मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते हैं। रूपका अर्थ शरीरका सौंदर्य, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमारता है। यदि गोरा शरीर हो, यदि सुकुमार नाजुक शरीर हो तो उसके लिये कितना किरण स्नान देना चाहिये, उसके लिये सवैरका कोमल प्रकाश, या दीपहरका कठोर प्रकाश बतैना चाहिये, इत्यादिका विचार करना वैद्योंका कार्य है। जो काले शरीरवाले तथा सुदृढ़ या कठोर शरीरवाले होते हैं उनके लिये किरणस्नानका प्रमाण भी भिन्न होना योग्य है। तथा जो घरमें बैठनेवाले लोग होये हैं और जो भूपर्यन्त कार्य करनेवाले होते हैं उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है। इस विचारका नामही “रूप और बलके अनुसार विचार” करना है। (रूपं रूपं वयो वयः) यह प्रमाण दर्शानेवाला मंत्रभाग अत्यंत महत्वका है। रोगीकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगीका रहना सहना, रोगीका पेशा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके किरण स्नानकी योजना करना चाहिये। नहीं तो कोमल प्रकृतिवालेको अधिक स्नान देनेसे आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य होगा। अथवा कठोर प्रकृतिवालेको अल्प प्रमाणमें देनेसे उसपर कुछ भी परिणाम न होगा। इस दृष्टिसे तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध बहुत मनन करनेयोग्य है।

रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा ।

इसी सूत्रसे रंगीन गौके दूधसे रोगीकी चिकित्सा करनेकी विधि भी यत्ता दी है। गौके सफेद, काल, लाल, भूरे, नमवादी, बादामी, तथा

विविध रंगके धब्बोंवाली होती हैं। सूर्यकिरण गौके पीठपर गिरते हैं और उस कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है। श्वेत गौके दूधका गुणधर्म भिन्न होगा, काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, उसी प्रकार अन्यान्य रंगवाले गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे। एक धार वर्णचिकित्साका तरव माननेपर यह परिणाम माननाही पड़ता है। इसी लिये इस सूक्तके मंत्र ३ में “रोहिणीः गावः” अर्थात् काल गायोंके दूधका तथा अन्यान्य गोरसोंका उपयोग हृदय विकार और कामिला रोगकी निवृत्तिके लिये करनेका विधान है। यह विधान मनन करनेसे बड़ा बोधप्रद प्रतीत होता है और इसके मनन करनेसे अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य गौयोंके गोरसोंका उपयोग करनेका उपदेश भी प्राप्त होगा। वर्णचिकित्साकाही सर्व गोदुग्ध-चिकित्साके लिये बतलाया गया। दोनोंके बीचमें तब एकही है।

पृथक् ।

वर्णचिकित्साके साथ साथ गोरस सेवनका पथ रखनेसे अत्यधिक लाभ होना सम्भवनीय है। अर्थात् लालरंगके किरणोंके परिधारण करनेके दिन लाल गौके दूधका सेवन करना, इत्यादि प्रकार यह पथ समझना उचित है।

इस प्रकार हम सूक्तका विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं।



ॐ

वैदिक-प्राण-विद्या ।

अवैतनिक महावीरोंका स्वर्गगत ।

राष्ट्रीय सैन्यमें कई वीर वेतन लेकर युद्धमें जानेवाले होते हैं और कई अवैतनिक स्वयं-सेवक होते हैं । वेतन लेकर युद्ध करनेवाले वीरोंकी अपेक्षा " अवैतनिक राष्ट्रीय स्वयं-सेवकोंका सम्मान " अधिक होता है ।

अपने शरीरमें भी उक्त प्रकारके दो वीर विद्यमान हैं । दो हात, दो पांव, गुदद्वार मूत्रद्वार और मुख ये सात कर्मवीर हैं, तथा, इनके सभ्य कार्य करनेवाले दो नाक, दो आंख, दो कान और खचा ये सात ज्ञानवीर हैं । ये दोनों प्रकारके वीरोंके चौदह गण हैं । ये वीर शरीरके संरक्षणके लिये बड़ा युद्ध करते हैं, परंतु इनको खानपान आदि रूपसे वेतन अवश्य देना चाहिए । यदि वेतन न दिया जायगा, तो इनसे कार्य नहीं हो सकता ।

इनकी अपेक्षा अवैतनिक राष्ट्रीय स्वयंसेवकका कार्य करनेवाले एकादश रुद्र प्राणरूपसे हम शरीरमें विद्यमान हैं । पंच पंच प्राण उपप्राण और एक जात्मा मिलकर ये ग्यारह महावीर होते हैं । बिना खानेपीनेके, तथा भाराम, विधाम और निद्रा न लेते हुए, ये वीर शरीरका संरक्षण करनेके लिये दैनिक महायुद्धमें सदाही तत्पर होते हैं । ये महावीर इतने प्रभावशाली होते हैं कि ये स्वयं अपना युद्धरूपी कार्य अपनीही शक्तिसे करते रहते हैं, साथ साथ पूर्वोक्त कर्मवीरों और ज्ञानवीरोंको भी सहायता देते हैं । उक्त वीरोंकी जागनेकी तथा सोनेकी अवस्थामें इनका एक जैसाही निःस्वार्थ कार्य होता रहता है । इसलिये अवैतनिक कार्य करनेवाले इन महावीरोंका शरीर की सुस्थितिके लिये अत्यंत उपयोग है । इनके निष्काम भावसे किये हुए कार्यसेही संपूर्ण शरीरकी सुस्थिति होती है । इसलिये सब शरीररूपी इस राष्ट्रमें इनका माहात्म्य अधिक है और इसी कारण इन महावीरोंकी सर्वत्र पूजा होती है । इनकी पूजा करनेका विचार इस पुस्तकमें है ।

वैदिक प्राणविद्या।



मनुष्यके लिये सच अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्राणविद्याकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यके शरीरमें भौतिक और अर्भातिक अनेक शक्तियाँ हैं। उन सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिका महत्त्व सर्वोपरि है। सब अन्य शक्तियोंका अस्त होनेपर भी इस शरीरमें प्राणशक्ति कार्य करती है, परंतु प्राणका अस्त होनेपर कोई अन्य शक्ति कार्य करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकती। इससे प्राणका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो सकता है।

इस प्राणकी विद्या वेदमें है या नहीं? और यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? यह प्रश्न धार्मिक पण्डितों के लिये है। इसका उत्तर निम्न मंत्रों से दे सकते हैं। वेदमें प्राणविद्याका विस्तारपूर्वक उपदेश है। प्रायः अनेक देवताओंके सूक्तोंमें साक्षात् अथवा परंपरासे प्राणविद्याका उपदेश आता है। परंतु वेदकी प्राणविद्याके संपूर्ण मंत्र अवगत पुरुषों नहीं हुए हैं, इस अवस्थामें प्राणविद्याका स्पष्ट रूपसे उपदेश करनेवाले धोरेसे मंत्र इस लेखमें देनेका यत्न कर रहा हूँ।

ईश्वर सप्तका प्राण है।

प्राणाय तमो यस्य सर्वमिव चरे।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यासिन्सर्वं प्रातिष्ठितम् ॥

“ जिसके आधीन (इन्द्र सर्व) यह सब जगत् है, उस प्राणके लिये ऐसा नमस्कार है। वह प्राण सबका ईश्वर (भूत.) है और उसमें सब जगत् (प्रातिष्ठित) रक्षा है। ”

अंतरिक्षस्थ प्राण ।

नमस्ते प्राण कंदाय नमस्ते स्तनायित्तये ।

नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण चर्पते ॥ २ ॥

“हे प्राण ! गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार है । मेघोंमें नाद करनेवाले तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! चमकनेवाले तुझको नमस्कार है और हे प्राण ! वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार है । ”

केवल गरजनेवाले मेघोंका नाम ‘ कंद ’ है, वही गर्जना और विद्युत्पात जिनसे होता है उन मेघोंका नाम ‘ स्तनायित्तु ’ है; जिनसे बिजली बहुत चमकती है उनको ‘ विद्युत् ’ कहते हैं और वृष्टि करनेवाले मेघोंका नाम है ‘ चर्पत् ’ । ये सब मेघ अंतरिक्षमें प्राणको धारण करते हैं और वृष्टिद्वारा यह प्राण भूमिदल पर जाता है, और पृथ्वीनस्पतियोंमें संचारित होता है । इस प्रकार अंतरिक्षस्थानमें प्राणके वास्तव्यका अनुभव करना चाहिए । इस प्राणका कार्य देखिए—

प्राणका कार्य ।

यत्प्राण स्तनायित्तुनाऽभिवन्दित्योपधीः ।

प्रवीचन्ते गर्भान् दधनेऽथा पक्षीर्विजायन्ते ॥ ३ ॥

“ हे प्राण ! जब तू मेघोंके द्वारा आपधियोंके मध्यस्थ बड़ी गर्जना करता है, तथा आपधियां (प्रवीचन्ते) तल्लगी होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भ धारण करती हैं और बहुत प्रकारसे विस्मा/को प्राप्त होती हैं । ” अंतरिक्षा स्थानमें प्राण वृष्टिद्वारा आपधि वनस्पतियोंमें आकर वनस्पतियोंका विस्तार करता है । प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखनेयोग्य है ।

यत्प्राण ज्ञानावागतेऽभि कंदस्योपधीः ।

मयि तदा प्रमोदने शक्तिं न भूष्यामधि ॥ ४ ॥

“ हे प्राण ! (ज्ञानौ आगते) जब तू गर्भाधियोंके उद्देशसे गर्जना करने लगता है, तब जगत् ज्ञानेन्द्रिय होता है, जो पृथ्वी पर है । ”

यहाँ " प्राण " शब्दसे परमेश्वरकी विद्यम्यापक जीवनशक्ति कही है । इस परमात्माकी जीवनशक्तिके आधान यह सब संसार है, इसीके आधारसे रहा है और इसीसे सब संसारका नियमन भी हो रहा है । समष्टिदृष्टिसे सर्वत्र प्राणका राज्य है । व्यष्टिदृष्टिसे प्रत्येक शरीरमें जो प्राणकाही आधिपत्य है । प्राणिमात्रके प्रत्येक शरीरमें जो जो इंद्रियादिक शक्तियाँ हैं, तथा विभिन्न अवयव और इंद्रिय हैं, सबही प्राणके वशमें हैं । प्राणके आधीनही सब शरीर है । शरीरमें प्राणही सब इंद्रियों और अवयवोंका ईश्वर है, क्योंकि उसीके आधारसे सब शरीर प्रत्येकको प्राप्त हुआ है । प्राणके बिना इस शरीरकी स्थितिही नहीं हो सकती । अर्थात् प्राणके वश होनेसे सब शरीर सुदृढ़ और नीरोग हो सकता है और प्राणके निर्बल होनेसे सब शरीर निर्बल हो सकता है । इसलिये प्राणको स्वाधीन करनेकी आवश्यकता है ।

अपने शरीरमें आस-कच्छात्मक प्राण चल रहा है और जन्मसे मरण-पर्यंत यह कार्य करता है । सब इंद्रिय और अवयव सर जानेके पश्चात् भी कुछ देरतक प्राण कार्य करता है, इसलिये सबसे प्राणी मुख्य है और वह सबका आधार है । अपने प्राणकी केवल साधारण आत्मरूपाही समझना नहीं चाहिये, परंतु उसको श्रेष्ठ दिव्य शक्तिका अंश समझना उचित है । मनकी इच्छा शक्तिके प्रेरित प्राण सबही शरीरका आरोग्य संपादन करनेमें समर्थ होता है, इस दृष्टिसे प्राणका महत्त्व सब शरीरमें अधिक है । इसके महत्त्वकी समझना और यदा मनमें धारण करना चाहिए । " अपने प्राणके आधीन मेरा सब शरीर है, प्राणके कारण वह स्थिर रहा है और उसकी सब हलचल प्राणकी प्रेरणासे होती है, इस प्रकारके प्राणकी मैं वपासना करूंगा और उसको अपने आधीन करूंगा । प्राणायामसे उसकी प्रसन्न करूंगा और वशीभूत प्राणने अपनी इच्छानुरूप अपने शरीरमें कार्य करूंगा । " यह भावना मनमें धारण करके अपने प्राणकी शक्तिका चिंतन करना चाहिए ।

यह प्राण जैसा शरीरमें है वैसा चाहिए भी है । इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिए—

अंतरिक्षस्थ प्राण ।

नमस्ते प्राण कंदाय नमस्ते स्तनायित्तवे ।

नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥

“हे प्राण ! गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार है । मेघोंमें माद करनेवाले तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! चमकनेवाले तुझको नमस्कार है और हे प्राण ! वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार है । ”

केवल गरजनेवाले मेघोंका नाम ‘ ऋर ’ है, बड़ो गर्जना और विद्युत्पात जिनसे होता है उन मेघोंका नाम ‘ स्तनायित्तु ’ है, जिनसे बिजुली बहुत चमकती है उनको ‘ विद्युत् ’ कहते हैं और वृष्टि करनेवाले मेघोंका नाम है ‘ वर्षत् ’ । ये सब मेघ अंतरिक्षमें प्राणको धारण करते हैं और वृष्टिद्वारा वह प्राण भूमिकल्प जाता है, और वृक्षवनस्पतियोंमें संचारित होता है । इस प्रकार अंतरिक्षस्थानमें प्राणक वास्तव्यका अनुभव करना चाहिए । इस प्राणका कार्य देखिए—

प्राणका कार्य ।

यत्प्राण स्तनायित्तुनाऽभिकंदत्योपधोः ।

प्रधीयन्ते गर्भान् दधतेऽथा पत्नीर्विजायन्ते ॥ ३ ॥

“हे प्राण ! जब तू मेघोंके द्वारा आपधियोंके सम्मुख बड़ी गर्जना करता है, तब औपधिया (प्रधीयन्ते) तजस्वी होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भ धारण करती हैं और बहुत प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होती हैं । ” अंतरिक्षा स्थानका प्राण वृष्टिद्वारा औपधि वनस्पतियोंमें आकर वनस्पतियोंका विस्तार करता है । प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखनेयोग्य है ।

यत्प्राण क्रमावागतेऽभि कंदत्योपधोः ।

सर्वे तदा प्रमोदन्ते यत्किं न भूभ्यामधि ॥ ४ ॥

“हे प्राण ! (क्रमसे आगते) वर्षा क्रतु आनेही जब तू औपधियोंके उद्देशसे गर्जना करने लगता है, तब जगत् आनंदित होता है, जो कुछ इस पृथ्वीपर है । ”

वृष्टिद्वारा प्राप्त होनेवाले प्राणसे न केवल वृक्षवनस्पातिवा प्रफुल्लित होती हैं, परंतु अन्य जीवजंतु और प्राणी भी बड़े हर्षित होते हैं । मनुष्य भी इसका स्वयं अनुभव करते हैं ।

देखिए—

यदा प्राणा अभ्यवर्षद्वर्षेण प्रार्थयन् महीम् ।

पशयस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

“जब प्राण वृष्टिद्वारा इस बड़ी भूमिपर वर्षा करता है, तब पशु हर्षित होते हैं [और समझते हैं कि] निश्चयसे अब हम सबका (मह.) वृद्धि होगी ।”

आभेष्टुष्टा औपधयः प्राणेन समधादिरन् ।

आयुर्धै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभारकः ॥ ६ ॥

“औपधियोंपर वृष्टि होनेके पश्चात् औपधियां प्राणके साथ भाषण करती हैं कि हे प्राण ! तूने हमारी आयु बड़ा दी है और हम सबको (सुरभी.) सुगन्धियुक्त (भक्त) किया है ।”

अंतरिक्षस्थ प्राणका कार्य इस प्रकार पाठक देखें और जगत्में इस प्राणका महत्त्व कितना है, इसका अनुभव करें । पहिले मंत्रमें प्राणका सामान्य स्वरूप वर्णन किया है उसकी अंतरिक्षस्थानीय एक निमूर्ति यदा यदा दी है । अब हमें वैयक्तिक विभूति बताया जाती है ।

वैयक्तिक प्राण ।

नमस्ते अस्तनायत नमोऽस्तु परायते ।

नमस्त प्राण तिष्ठत आर्सानायोन ते नमः ॥ ७ ॥

नमस्ते प्राण प्र णते नमो अस्तुपानते ।

परानानाय ते नमः प्रतोचोनाय ते नमः ॥

सर्वस्मै त इदं नमः ॥ ८ ॥

“जागमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है, गमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है । हे प्राण ! स्थिर रहनेवाले और बैठनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है ॥ हे प्राण ! (प्राणते) जीवनका कार्य करनेवाले तुझे नमस्कार है । अपानका कार्य करनेवाले तेरे लिये नमस्कार है । आगे बढ़नेवाले और पीछे हटनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है । (सर्वस्मै) सब कार्य करनेवाले तेरे लिये यह मेरा नमस्कार है । ”

आसके साथ प्राणका अंदर गमन होता है और उच्छ्वासके साथ बाहिर आना होता है । प्राणायामके पूरक और रेचकका बोध “आयत्, परायत्” इन दो शब्दोंसे होता है । स्थिर (विष्ट) रहनेवाले प्राणसे कुम्भकका बोध होता है । और बाह्य कुम्भकका ज्ञान ‘आसीन’ पदसे होता है । “ (१) पूरक, (२) कुम्भक, (३) रेचक और (४) बाह्य कुम्भक ” ये प्राणायामके चार भाग हैं । ये चारों मिलकर परिपूर्ण प्राणायाम होता है । इनका वर्णन इस मन्त्रों “ (१) आयत्, (२) विष्ट, (३) परायत्, (४) आसीन ” इन चार शब्दोंसे हुआ है । जो अक्षर आनेवाला प्राण होता है, उसको “आयत् प्राण ” कहा जाता है, यही पूरक प्राणायाम है । आनेजानेकी शक्तिका निरोध करके प्राणको अंदर स्थिर किया जाता है, उसको “ विष्ट प्राण ” कहते हैं । यही कुम्भक अथवा अंत कुम्भक प्राणायाम होता है । जो अंदरसे बाहिर जाता है उसको “ परायत् प्राण ” कहते हैं । यही रेचक प्राणायाम है । सब प्राण रेचक द्वारा बाहिर निकालनेके पश्चात् उसको बाहिरही बिठलाना “ आसीन प्राण ” द्वारा होता है । यही बाह्य कुम्भक है । प्राणायामके ये चार भाग हैं । इन चारोंके अभ्याससे प्राण वश होता है । यही इस प्राणद्वाराका प्रसन्नता करनेका उपाय है, यही प्राण-उपासनाकी विधि है ।

प्राण नाम उसका है कि जो नासिका द्वारा छातीमें पहुँचता है । अपान उसका नाम है कि जो नाभिके निम्न देशसे गुदाके द्वारतक कार्य करता है ।

इन्दीके दो अन्य नाम “ प्राचीन और प्रतीचीन ” प्राण हैं । प्राणके स्वाधीन रखनेका तात्पर्य प्राण और अपानको स्वाधीन करना है । अपानकी स्वाधीनतासे मलमूत्रोत्सर्ग उत्तम प्रकारसे होते हैं और प्राणकी स्वाधीनतासे रुधिरकी शुद्धि होती है । इस प्रकार दोनोंके वशीभूत होनेसे शरीरकी मीरोगता सिद्ध होती है । इस प्रकार प्राणकी स्वाधीनता होनेसे प्राणके आधीन सब शरीर है, इसका अनुभव होता है । हमी उद्देशसे मंत्र कहता है कि “ सर्वस्वै त इदं नमः ” अर्थात् तू सब कुछ है, इसलिये तेरा सत्कार करता हूँ । शरीरका कोई भाग तेरी शक्तिके बिना कार्य नहीं कर सकता, इसलिये सब अवयवोंमें सब प्रकारका कार्य करनेवाले प्राणका सदाही सत्कार करना चाहिए । हर एक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने प्राणकी इस शक्तिका ध्यान करे विश्वासपूर्वक इस शक्तिका स्मरण रके, क्योंकि निम्न आरोग्यकी सिद्धि इसपर निर्भर है । इस प्राणशक्तिका इतना महत्त्व है कि इसकी विद्यमानतामेंही अन्य औषधि कार्य कर सकते हैं, परंतु इस शक्तिके कमजोर होनेपर कोई औषधि कार्य नहीं कर सकता । प्राणही सब औषधियोंकी औषधि है । इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

प्राणका औषधिगुण ।

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रयन्मी ।

अथो यद्वेपज तव तस्य नो धेहि जायम् ॥ ९ ॥

“ हे प्राण ! जो तेरा (प्राणमय) प्रिय शरीर है, और जो तेरे (प्राणापानरूप) प्रिय भाग है, तथा जो तेरा औषध है, वह (जीवते) दीर्घ-जीवनके लिये हमको दो । ”

अक्षमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पाँच कोश हैं इनको पाँच शरीर भी कह सकते हैं । इन पाँच शरीरोंमेंसे “ प्राणमय शरीर ” का वर्णन इस मंत्रमें किया है । “ प्रिया तनू ” यह प्राणमय शरीर है । सब ही इसपर प्रेम करते हैं, सब चाहते हैं कि यह प्राणमय शरीर

सदा रहे । प्राण और अपान ये इस शरीरके दो प्रेममय कार्य हैं । प्राणसे आक्तिका संवर्धन होता है और अपानसे विषको हट करके स्वास्थ्यका संरक्षण होता है । प्राणके अन्दर एक प्रकारका " भेषज " अर्थात् औषध है । दोषोंको दूर करनेकी शक्तिका नाम (दोष-घ) औष-घ अथवा भेषज होता है । शरीरके सब दोष दूर करना और वहाँ शरीरमें आरोग्यकी स्थापना करना, यह पवित्र कार्य करना प्राणकाही धर्म है । प्राणका दूसरा नाम " रुद्र " है और रुद्र शब्दका अर्थ वैद्य भी होता है । [इसका वर्णन " रुद्रदेवताका परिचय " और " अरवेदमें रुद्रदेवता " इन दो पुस्तकोंमें बिल्लारसे किया है । पाठक वहाँही इस विषयको देखें ।] इस प्राणमें औषध है, यह वेदका कथन है । इसपर अवश्य विश्वास रखना चाहिए क्योंकि यह विश्वास अशास्त्रिक नहीं है । अपनी निज शक्तिपर विश्वास रखनेका समानही यह वास्तविक विश्वास है । मानसचिकित्साका यह मूल है । पाठक इस दृष्टिसे इस मन्त्रका विचार करें । अपना प्राणशक्तिसे अपनीही चिकित्सा की जा सकती है । ' मैं अपनी प्राणशक्तिसे अपने रोगों का निवारण अवश्य करूँगा, ' यह आज यही धारण करनेसे बड़ा लाभ होता है ।

सर्वरक्षक प्राण ।

प्राणः प्रजा अनु यस्मै पिता पुत्रमिव प्रियम् ।

प्राणो ह सर्वमाश्रयो यच्च प्राणति यच्च न ॥ १० ॥

" त्रिम प्रकाश प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है, उस प्रकार सब प्रजाओंके साथ प्राण रहता है । जो प्राण धारण करते हैं और जो नहीं धारण करते, उन सबका प्राणही ईश्वर है । "

त्रिम प्रकाश पुत्रका संरक्षण करनेकी इच्छा पिता करता है, उसी प्रकार प्राण सबका रक्षण करना चाहता है । सब प्रजाओंके शरीरोंमें नमनादियोंमें जाकर, यहाँ रहकर सब प्रजाका संरक्षण यह प्राण करता है । न केवल

प्राण धारण करनेवाले प्राणियोंका परंतु जो प्राण धारण नहीं करते हैं, ऐसे स्थावर पदार्थोंका भी रक्षण प्राणही करता है। अर्थात् कोई यह न समझे कि आसोच्छ्वास करनेवाले प्राणियोंमेंही प्राण है, परंतु वृक्षवनस्पति, पत्थर आदि पदार्थोंमें भी प्राण है, और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका संरक्षण करता है। प्राणको पित्तके समान पुण्य समझना चाहिए और उसको सब पदार्थोंमें व्यापक समझना चाहिए।

प्राणकी उपासना।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तदमा प्राणं देवा उपासते।

प्राणो ह सत्यवादिनमुन्नमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥

“प्राणही मृत्यु है और प्राणही जीवनकी शक्ति है। इसलिये सब देव प्राणकी उपासना करते हैं। क्योंकि सत्यवादीको प्राणही उत्तम लोकमें पहुँचाता है।”

शरीरसे प्राण चले जानेसे मृत्यु होता है, और जगतक शरीरमें प्राण कार्य करता है, तबतकही शरीरमें सामर्थ्य अथवा सहनशक्ति रहती है। इस प्रकार एकही प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है। ‘देव’ शब्दसे हम भ्रममें इंद्रियोंका ग्रहण होता है। सब इंद्रियाँ प्राणकीही उपासना करती हैं, अर्थात् प्राणके साथ रहकर अपने अंदर बल प्राप्त करती हैं। जो इंद्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है, वही कार्यक्षम होता है, परंतु जो इंद्रिय प्राणसे त्रियुक्त होता है, वह मर जाता है। यही प्राणकी उपासना है और यही रुढ़की उपासना है। सब देवोंमें महादेवकी शक्ति कैसी कार्य करती है, इसका यही अनुभव हो सकता है। प्राणही महादेव, रुद्र, ताम्र आदि नामोंसे बोधित होता है। स्पष्टिक शरीरमें प्राणही उसकी विभूति है। सब जगत्में उसका स्वरूप विश्वव्यापक प्राणनामकी है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आधरपसे अग्नि, वायु, इंद्र, सूर्य आदि देवता-गण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। स्पष्टिमें और समष्टिमें एकही नियम कार्य कर

रहा है। स्पष्टिमें प्राणके साथ इंद्रियां रहती हैं और समष्टिमें व्यापक प्राण-शक्तिके साथ आग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकारके देव प्राणकी उपासनासेही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्रमें विद्वान् शूर आदि प्रकारके हैं। वे सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, सत्यपरायण और सत्याग्रही बनकर प्राणायामद्वारा प्राणकी उपासना करते हैं। प्राणही इनको उत्तम लोकमें पहुंचाता है अर्थात् इनको श्रेष्ठ बनाता है। अर्थात् प्राणकी उपासनासे सबही श्रेष्ठ बनते हैं।

सत्यसे बलप्राप्ति ।

कई लोग यहां पूछेंगे कि सत्यवादिताका प्राणकी उपासनाके साथ क्या संबंध है ? उत्तरमें निवेदन है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढ़ती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विकास होनेसे बड़ा काम होता है। प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढ़ती है और सत्यनिष्ठासे मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है। तथा—

सूर्यचन्द्रमें प्राण ।

प्राणो धिराद् प्राणो दृष्टी प्राणं सर्वं उपासते ।

प्राणा द् सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

“ प्राण (धि-राज्) विशेष तेजस्वी है, और प्राणही (दृष्टी) सबका प्रेरक है। इसलिये प्राणकीही सब उपासना करते हैं। सूर्य, चंद्रमा और प्रजापति भी प्राणही हैं। ”

प्राण विशेष तेजस्वी है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतकही शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणसेही प्रेरणा होती है। बोलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणकी प्रेरणासेही होता है, अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणिमात्र प्राणकीही उपासना करते हैं किंवा यों समझिए कि

जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं, तबतकही उनकी स्थिति होती है। जब वे प्राणका सहचर्य छोड़ देते हैं तब उनकी मृत्युही होती है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकीही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक इच्छाके साथ प्राणोपासना की जायगी, तो निःसंदेह बड़ा लाभ हो सकता है। क्योंकि हम जीवनका जो वैभव है, वह प्राणमेही प्राप्त हुआ है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना है, तो प्रयत्नसे उसकीही उपासना करनी चाहिए। प्राणाध्यामका यही फल है। इस जगत्में सूर्य चंद्र ये प्राणही हैं। सूर्य-किरणोंके द्वारा वायुमें प्राण रहना है और चंद्र अपने किरणोंसे औपधियोंमें प्राण रहता है। मेघ विद्युत् आदि अपने अपने कार्य द्वारा जगत्को प्राण दे ही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रजापति परमात्मा है, वहही सर्ववा प्राण है, क्योंकि जीवनकी सब प्राणशक्तिका वह एक मात्र आधार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राणही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है, देखिए—

धान्यमें प्राण ।

प्राणापानौ ग्रीहियथायनदधान प्राण उच्यते ।

यथे ह प्राण आदितंऽपानो ग्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥

“प्राण और अपानही खावल और जो हैं। (अनद्वान्) बैलही मुख्य प्राण है। जोमें प्राण गता है और खावल अपानको कहते हैं।”

मुख्य प्राण पृथ्वी है, उसमें चलने शरीरमें प्राण और अपान कार्य करते हैं। इसी प्रकार खेतीमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिमेही खावल और आ आदि धान्य उत्पन्न होता है। वेदमें “अनद्वान्” यह बैलवाचक है। समझो कि शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैलही गती करता है और पहाका किमान जीवात्मा है। शरीर क्षेत्र है, प्राणजीवात्मा क्षेत्रज्ञ है, बंट है, और जीवनव्यवहाररूप होती यहाँ शक्त रही है। वेदमें अनद्वान् शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण बह्मोंने बड़ा अर्थका अनर्थ किया है,

देखिए-

अनङ्गवान् दाधार पृथिवीमुत याम् ॥ (अथर्व- १११११)

“ प्राणका पृथिवी और सुलोकको को आधार है, ” यह वास्तविक अर्थ न लेकर, बेलका पृथिवी और सुलोकको आधार है ऐसा भाव कह्योने ममज्ञा है । यदि पाठक इस अनङ्गवान् सूक्तका अर्थ इस प्राणसूक्तके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वह अनङ्गवान्का अर्थ केवल बेलही नहीं है, प्रत्युत प्राण भी है । इसी कारण इस सूक्तमें प्राणका नाम अनङ्गवान् कहा है । यह प्राण है और वायुल अपान है, यह कथन आलंकारिक है । धान्यमें प्राण और अपान अर्थात् प्राणकी संपूर्ण शक्तियाँ व्याप्त हैं । धान्यका योग्य सेवन करनेसे अपने शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव बनकर कार्य करते हैं ।

प्राणसे पुनर्जन्म ।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।

यदा त्वं प्राण जिव्यस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥

“ (पुरुषः) जीव गर्भके अंदर प्राण और अपानके व्यापार करता है । हे प्राण ! जब तू (जिव्यसि) प्रेरणा करता है, तब वह जीव पुनः उत्पन्न होता है । ”

गर्भके अंदर रहनेवाला जीव भी वहाँही गर्भमें प्राण और अपानके व्यापार करता है । आर इसी लिये वहाँ उसका जीवन होता है । जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है । अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणकेही आधीन है । इस मंत्रमें “ सः पुनः जायते ” यह वाक्य पुनर्जन्मकी कल्पनाका मूल वेदमें बता रहा है । जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है, वह सब प्राणकी प्रेरणासे होता है, यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है ।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

“प्राणको मातरिश्वा कहते हैं, और वायुका नामही प्राण है। भूत, भविष्य और सब कुछ वर्तमान कालमें जो है, वह सब प्राणमें ही रहता है।”

“मातरिश्वा” शब्दका अर्थ ‘माताके अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहने-वाला’ है। माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जीव रहता है, इसलिये जीवका नाम ‘मातरिश्वा’ है। गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नामही प्राण होता है। इस कारण प्राण और मातरिश्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं। ‘मातरिश्वा’ का दूसरा अर्थ वायु है। वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचकही हैं। क्योंकि वायुरूप प्राणही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं। प्राणका विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, भविष्य और वर्तमानका सबही जगत् रहता है। प्राणके आधारसेही सब रहता है। प्राणके बिना जगत्में किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती। पूर्वजन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं। अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संचित होते हैं, उनके कारण यथायोग्य रीतिसे पुनर्जन्मादि होते हैं।

अथर्व-चिकित्सा ।

आथर्वणीरांगिरसीर्देवीमनुष्यजा उत ।

ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिग्यसि ॥ १६ ॥

“हे प्राण ! (यदा) जबतक तू (जिग्यसि) प्रेरणा करण दे, सब-सकही आयुर्वेदी, आंगरसी, देवी और मनुष्यकृत औषधियाँ (प्र-जायंते) फल देती हैं । ”

औषधियोंका उपयोग सबतकही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है। जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं होता। इसी सूक्तके मंत्र ९ में “ प्राणही

औषधि है कि जो जीवनकी हेतु है " ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस मंत्रके साथ करना उचित है ।

इस मंत्रमें " (१) आयर्वणीः, (२) आंगिरसीः, (३) देवीः, और (४) मनुष्यजाः = ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं । इसका विचार निम्न प्रकार है- (१) मनुष्यजाः औषधयः = मनुष्योंकी बनाई औषधियाँ, अर्थात् कृपाय, चूर्ण, अवलेह, भस्म, कटप आदि प्रकार जो घंटों, डाक्टरों और दूकानोंके बनाये होते हैं, उनका समावेश इसमें होता है । ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं । इनसे श्रेष्ठ देवी विधि है । (२) देवीः औषधयः = आप, तेज, वायु, आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, यह देवी चिकित्सा है । जलचिकित्सा, सौर-चिकित्सा, वायुचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा घर्णचिकित्सा आदि सब दैवी प्रकार हैं । सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साक्षात्संबंधसे यह चिकित्सा होती है और आश्चर्यकारक गुण प्राप्त होता है, इनलिये इसकी योग्यता बढ़ी है । इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हुवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी समावेश इसमें होता है । देवयज्ञ द्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो जो अंश अपने शरीरमें हैं, उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है । यह बात युक्तियुक्त और तर्कगम्य भी है । (३) आंगिरसीः औषधयः = अंगों, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है । जिसके कारण हमारे भयवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है । उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि-रस-चिकित्सा कहलाती है । मानसिक दृष्ट्याशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे हम रसका अंगप्रत्यंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निवृत्ति होती है । मानसिक चित्तकाम्यका इसमें विशेष संबंध है । कृष्ण अवयवको संशोधित करके निरोगताके भावकी सूचना देना, तथा रोगीको अपनी निज अंगरसशक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना हम विधिमें मुख्य है । निज आरोग्यके लिये बाह्य साधनोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसको आंगिरसी चिकित्सा अर्थात् अपने निज

अंगोंके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं । (४) आयुर्वेणी: औषधयः
 = 'अ-यवां' नाम है योगीका । मनकी विविध वृत्तियोंका निरोध
 करनेवाला, चित्तवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला योगी अथवा कहलाता है ।
 इस शब्दका अर्थ (अ-यवां) निश्चल, स्तब्ध स्थिर, गतिहीन ऐसा है ।
 स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं । योगी
 लोग मंत्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आयुर्वेणी चिकित्सा
 होता है । हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिसे मानसशक्तिसे और आत्मविश्वाससे
 मंत्रप्रतिष्ठि होती है । यह आयुर्वेणी चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें
 जो कार्य होता है वह आत्माकी शक्तिसे होता है, इसलिये अन्य चिकित्सा-
 ओकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है, इसमें कोई सदेहही नहीं है । ये सब
 चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना
 चाहता है । जब प्राण चले जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं
 हो सकती । इस प्रकार प्राणका महत्व विशेष है ।

प्राणकी वृष्टि ।

यदा प्राणो अभ्यर्चणीं वर्येण पृथिवीं महीम् ।

औषधयः ॥ जायन्ते याः काश्च वीरधः ॥ १७ ॥

“(यदा) जब (प्राणः) प्राण इस बड़ी (पृथिवीं महीम्) पृथ्वीपर (अभ्यर्चणीं)
 वृष्टि करता है, सब औषधियां और धनस्पतियां बढ़ जाती हैं ।”

इस मंत्रका पूर्व अर्ध मंत्र पांचम आया है, इसलिये इस मंत्रका संबंध
 पांचवें मंत्रके साथ देसना उचित है । अंतरिक्षस्थ प्राण वृष्टिद्वारा वृक्षवन-
 स्पतियोंको प्राप्त होता है, यह इस मंत्रका तात्पर्य है ।

प्राणको स्वाधीन करनेवालेकी योग्यता ।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिश्चासि प्रतिष्ठितः ।

सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥

यथा प्राण बलिद्वितस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।

एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृण्वतमुश्रय ॥ १९ ॥

“हे प्राण ! जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और (यस्मिन्) जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, (तस्मै) उस मनुष्यके लिये उस उत्तम लोकमें सबही (बलि) स्तुतिस्कारका समर्पण करते हैं ॥ हे प्राण ! (यथा) जिस प्रकार ये सब प्रजाजन तेरा स्तुतिस्कार करते हैं कि (य) जो (सु श्रवाः) उत्तम वशस्वी है और (स्वा) तेरा सामर्थ्य (शृणवन्) सुनता है ।”

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्णन श्रद्धासे सुनता है, प्राणके बलको विश्वाससे जानता है, प्राणका बल प्राप्त करनेमें वशस्वी होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है; उसका ही सब स्तुतिस्कार करते हैं, उसकी स्थिति उत्तम लोकमें होती है और उसी का यश सर्वत्र फैलता है। प्राणायाम द्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका यश सब प्रकारसे बढ़ता है। इस मंत्रमें “बलि” शब्दका अर्थ स्तुतिस्कार पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान आदि प्रकारका है। सब अन्य देव प्राणको ही पूजते हैं, इस बातका अनुभव अपने दरीरमें भी आ सकता है। नेत्र कर्ण नासिका आदि सब अन्य देव प्राणकी ही पूजा करते हैं, प्राणकी उपासनासे ही प्राणको शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायामकी साधना करनेवाले योगीका स्तुतिस्कार अन्य सज्जन करते हैं, और उसके उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर स्वयं बलवान् बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

पिता-पुत्र-संबंध ।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वामृतो भूतः स उ जायते पुनः ।

स भूतो भव्यं भाविष्यत् पिता पुत्र प्र विवेशा शर्चाभिः ॥१०॥

“(देवतासु आभूतः) इन्द्रियादिकोंमें जो स्थापक प्राण है वह ही (अंतः गर्भः चरति) गर्भके अंदर चलता है। जो (मृतः) पड़िके दुला

या (सः उ) वह ही (पुनः जायते) फिर उत्पन्न होता है । जो (भूतः) पहिले हुआ या (मः) वह ही (भव्यं मविष्यत्) अब होता है और आगे भी होगा । पिता (शचीभिः) अपनी सब शक्तियोंके साथ (पुत्रं प्रविशेत्) पुत्रमें प्रविष्ट होता है । ”

सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके अंश मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं । वही आंश नाक आदि अवयव किंवा इंद्रियोंके स्थानमें रहते हैं । इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है । यही व्यापक प्राण पूरे देहको छोड़कर दूसरे गर्भमें प्रविष्ट होता है । अर्थात् एकबार जन्म लेनेके पश्चात् पुनः जन्म लेता है । आत्माकी शक्तियोंका नाम शची है । इंद्रकी धर्मपत्नीका नाम शची होता है । धर्मपत्नीका भाव यहाँ निजशक्ति ही है । इंद्र जीवात्मा है, और उसकी शक्तियाँ शची नामसे प्रसिद्ध हैं । पिताका अंश अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है । पिताके अंगों, अवयवों और इंद्रियोंके समानही पुत्रके कई अंग, अवयव और इंद्रिय होते हैं । स्वभाव तथा गुणधर्म भी कई अंशमें भिन्न हैं । हम बातको देखनेसे पता लग सकता है, कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है । गृहस्थी लोगोंको हम बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना इनका ही विषय है । माता पिताके अच्छे और बुरे गुणदोष संतानमें आते हैं, इसलिये मातापिताको स्वयं निर्दोष होकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए । अर्थात् दोषी मातापिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है ।

हंस ।

एकं पार्दं नेतिपदति सलिलाद्दंस उच्चरन् ।

यदङ्ग स तमुत्तिदेशैवाय न श्वः स्यात्त रात्रौ नाहः

म्यात्त व्युच्छेत्कदा चन ॥ २१ ॥

“ जलसे हंस ऊपर उठता हुआ एक पाँवको उठाता नहीं । (अंग) वे

प्रेम ! यदि वह उस पाँवको उठावेगा तो आज, कल, रात्रि, दिन, प्रकाश और अंधेरा कुछ भी नहीं होगा ।”

“हंस” नाम प्राणका है । आस अदूर जानेके समय “स” का ध्वनि होता है और उच्छ्वास बाहेर आनेके समय “ह” का ध्वनि होता है । “ह आर स” मिलकर “हंस” शब्द प्राणवाचक बनता है । उसीके अन्य रूप “अ-हंसः, सोऽहं” आदि उपासनाके लिये बनाये गये हैं । इनमें ‘हंस’ शब्द ही मुख्य है । उसका शब्द बनानेसे इसीका “सोऽहं” बन जाता है, यथवा ‘हंस’ के साथ ‘ओं’ मिलानेसे ‘सोऽहं’ बन जाता है ।

स—ह	ह—स
ओ—म्	म्—ओ (अः)
सोऽहं	हं—स

पाठक यहां दोनों प्रकारके रूप देख सकते हैं । सांप्रदायिक जगहोंसे दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाको यदि पाठक देखेंगे तो उनकी बड़ा आश्चर्य प्रणीत होगा । ‘ओं’ शब्द आत्माका वाचक है और ‘हंस’ शब्द प्राणका वाचक है । आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है । आत्मा प्रज्ञाका वाचक है और प्रज्ञाका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपकमें आत्माका प्राणके साथका अखंड संबंधही वर्णन किया है । यह हंस मानस-सरोवरमें जोड़ा करता है । यहां प्राण भी हृदयरूपी अन्तःकरणस्थानीय मानस-सरोवरमें जोड़ा कर रहा है । हृदयकमलमें जीवात्माका निवास सुप्रसिद्ध है । अर्थात् कमलासन ब्रह्मदेव और उसका वाहन हंस, इसकी मूल वैदिक कल्पना यहां स्पष्ट होती है ।

ब्रह्मा, ब्रह्मदेव	आत्मा, जीवात्मा, ब्रह्म
हंस-वाहन	प्राण-वाहन
कमल-आसन	हृदय-कमल
मानस सरोवर	अंतःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्ता देव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आया है। उसका मूल आशय इस प्रकार देखना उचित है। वेदमें 'असौ अहं' (यजु० ४०।१७) कहा है। "असु अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा हूँ।" यह भाव उक्त मंत्रका है। वही भाव उक्त रूपमें है। प्राणके साथ आत्माका अद्यस्थान है। यह प्राण ही "हंस" है, यह (सलिल) हृदयके मानस सरोवरमें क्रीड़ा करता है। श्वास लेनेके समय यह प्राण उस सरोवरमें गोता लगाता है और उच्छ्वास लेनेके समय ऊपर उठता है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब उच्छ्वासके समय प्राण बाहिर आता है सब प्राणी मरता क्यों नहीं? पूर्ण उच्छ्वास लेकर श्वासको पूर्ण बाहिर निकालनेपर भी मनुष्य मरता नहीं। इसका कारण इस मंत्रमें बताया है। जिस प्रकार हंस पानी एक पाँव पानीमें डी रखकर दूसरा पाँव ऊपर उठाता है, उसी प्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पाँव हृदयके सरोवरमें जमाकर रखता है और दूसरे पाँवकोही बाहिर उठाता है, वही दूसरे पाँवको हिलाना नहीं। तात्पर्य प्राण अपनी एक शाक्तको शरीरमें स्थिर रखता हुआ दूसरी शक्तिसे बाहिर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि यह अपने दूसरे पाँवका भी बाहिर निकालेगा तो मात्र काल, दिन रात, प्रकाश अंधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनक पश्चात् ही कालका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका स्वभाव है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस स्वभावका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। 'हंस' शब्दके साथ प्राणही उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। श्वासके साथ 'स' कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ 'हं' कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होता है। इसमें चित्तकी एकाग्रता हीमार्ग मान्य होती है। यही "तो" अक्षरका श्रवण स्वयं साथ ही 'हं' का श्रवण उच्छ्वास के साथ करनेसे इसकाही ज्ञान बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है। सांप्रदायिक लोगोंने इनपर विवेक्षण और विभिन्न व्याख्याएं

रची हैं, परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर झगड़ोंसे दूर रहनाही हमको उचित है। अब इसका और वर्णन देखिये—

अष्टाचक्रं घर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।

अर्धेन विश्व भुचनं ज्ञानं यदस्याधे कतमः स केतुः ॥ ११ ॥

“आठ चक्रोंसे युक्त, सहस्र अक्षरोंसे व्यक्त और एकही केंद्र जिसका है ऐसा यह प्राणचक्र आगे और पीछे चलता है। आधे भागसे सब भुवनोंको ढकल करदे जो इसका आधा भाग सेप रहा है वह किसका चिह्न है?”

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विकक्षण कार्य करता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अमावस, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं। क्रमशः शुद्धसे लेकर मिरये ऊपर ले भागतक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं। पाठक मेरुदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने नियत कार्य करता है। जो मज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं, उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुंचा है इस बातका अनुभव होता है, और वहाकी स्थितिका भी पता लगता है। ऊपर मस्तिष्कमें सहस्राक्षर चक्रका स्थान है। यही मस्तिष्कका मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक केंद्र हृदयमें है। इस प्रकार एक केंद्र माय आठ चक्रोंमें सहस्र अक्षरोंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राण चक्र है। काम उच्छ्वास तथा प्राण अपान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति है। पाठकोंको उचित है कि ये इन चानोंको जानने और अनुभव करनेका यत्न करें। प्राणका एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संपर्क रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्ति साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणक भागका ज्ञान प्राप्त करना बड़ा सुगम है, परंतु आत्मिक शक्ति साथ संबंध रखनेवाले प्राणक भागका ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। आधे भागः साथ सब भुवनको बनाता है, जो इसका दूसरा अर्थ है वह किसका चिह्न है अर्थात् उसका ज्ञान किससे हो सकता है? आत्माके ज्ञानके साथ ही इसका ज्ञान हो सकता है।

नमन और प्रार्थना ।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः ।

अन्येषु क्षिप्रघन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।

अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो माऽनु तिम्रतु ॥ २४ ॥

“हे प्राण! (विश्व-जन्मनः) सबको जन्म देनेवाले और इस सब (चेष्टतः) हलचल करनेवाले जगत्का जो ईश है, सब अन्योमें (क्षिप्र-घन्वने) क्षीघ्र गतिवाले तेरे लिये नमन है। सब जन्म धारण करनेवाले और हलचल करनेवाले सबका जो स्वामी है, वह धैर्यमय प्राण आलस्य-रहित होकर (ब्रह्मणा) आत्मशक्तिसे युक्त होना हुआ (मा) मेरे पास (अनु तिम्रतु) सदा रहे।”

प्राण सबकाही ईश है, इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सबमें गतिमान् और सबमें मुख्य यह प्राण है। ब्रह्म अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्यरहित होकर और धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासककी मनमें धारण करना चाहे। अन्य इंद्रियोमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशेषण ‘अ-तन्द्र’ अर्थात् आलस्यरहित ऐसा रखा है। यही भाव निम्न मंत्रमें कहा है।

ऊर्ध्वः सुप्तो जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते ।

न सुप्तमस्य सुप्तोऽप्यनु शुधाय कश्चन ॥ २५ ॥

“ (सुप्तो) सब सो जानेपर भी यह प्राण (ऊर्ध्वः) उठा रहकर जागता है। कभी तिरछा गिरता नहीं। सबके सो जानेपर इसका सोना किसीने भी सुना नहीं है।”

सब इंद्रियाँ आराम में लेती हैं, आलसी बनती हैं, सो जाती हैं और भीरे-
 गिर जाती हैं। परंतु प्राणहीं रातदिन खड़ा रहकर जागता है, धियो में भी
 इस मंदिरकी संरक्षण करनेके लिये खड़ा रहकर पहरीयाँ करता है। कभी
 सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने काममें कभी पीछे नहीं
 हटता। सब इंद्रियाँ सोती हैं परंतु इस प्राणिकाँ सोना कभी किसीने सुना
 ही नहीं। अर्थात् विभ्राम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य
 करता है।

इसीलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। देखिए, किसी आलोकन-
 चर दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है। दृष्टि थकनेपर
 उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियों
 सकती हैं और विभ्राम चाहती हैं, इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना
 निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी
 विभ्राम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है
 वह निरंतर हो सकती है। बिना रुकावट प्राणोपासना हो सकती है, इस-
 लिये इसका अत्यंत महत्त्व है। तथा और देखिए—

प्राण मा मत् पर्यायतो न मदन्या अपिप्यसि ।

अप्यां गर्भमिव जीवसे प्राण यध्नामि त्वा मायि ॥ २६ ॥

“हे प्राण ! मेरेसे पृथक् न होओ। मेरेसे दूर न जाओ। पानीके गर्भके
 समान, हे प्राण ! जीवनके लिये मेरे अंदर तुझको बांधता हूँ।”

“हे प्राण ! मेरेसे दूर न हो जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो, मैं दीर्घ
 जीवन व्यतीत करूंगा, मैं दीर्घ आयुसे सुक होकर सौ वर्षसे भी अधिक
 जीवन व्यतीत करूंगा। इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ।” यह भावना
 उपासकको मनमें धारण करना चाहिये। अर्कर्मय मन है और आपोमय
 प्राण है, इसलिये प्राणको पानीका गर्भ कहते हैं। उपासकके मनमें यह
 भावना स्थिर रहनी चाहिये, कि मैंने प्राणोपासनाके द्वारा अपने शरीरमें
 प्राणको बांधकर रख दिया है। इसलिये यह प्राण कभी विरुक्त होकर दूर

नहीं होगा। प्राणायामादि साधनोंपर दृढ़ विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, ऐसा दृढ़ भाव चाहिए और कभी अकालमृत्युका विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए। आत्मप्राप्त विश्वास रखनेसे दृढ़ भावना दृढ़ हो जाती है। इस प्राणसूक्तमें निम्न भाव हैं —

प्राणसूक्तका सारांश ।

(१) प्राणके आधीन ही सब कुछ है, प्राणही सबका मुखिया है।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अन्तरिक्षमें है और घुलोकमें है।

(३) घुलोकका प्राण सूर्यकिरणों द्वारा पृथ्वीपर आता है, अन्तरिक्षका प्राण वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर पहुँचता है, और पृथ्वीपरका प्राण यहाँ सदाही वायुरूपसे रहता है।

(४) अन्तरिक्षस्थ और घुलोकस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है। इस प्राणकी प्राप्तिसे सबको आनन्द होता है।

(५) एक ही प्राण व्यक्तिके शरीरमें प्राण, अपान आदि रूपमें परिणत होता है। शरीरके अंग, अवयव और हृदियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है।

(६) प्राणही सब औषधियोंकी औषधि है। प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं। प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता, और प्राणकी अनुकूलता होनेपर बिना औषध नारोग्य रह सकता है।

(७) प्राणही दीर्घ आयु देनेवाला है।

(८) प्राण ही सबका पिता और पालक है और सर्वत्र व्यापक भी है।

(९) भ्रूयु, रोग और बल ये सब प्राणके कारण हो होते हैं। सब इन्द्रियाँ प्राणके साथ रहनेपर बल प्राप्त करती हैं। ये सब पुरुष प्राणको वशमें करके बल प्राप्त कर सकते हैं। सत्यनिष्ठ पुरुष प्राणकी प्रसन्नतासे उत्तम योग्यता प्राप्त करते हैं।

(१०) प्राणके साथ ही सब देवताएं हैं । सबको प्रेरणा देनेवाला प्राण ही है ।

(११) धान्यमें प्राण रहता है । वह भोजनके द्वारा शरीरमें जाकर शरीरका बल बढ़ाता है ।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है । प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहिर आता है और बढ़ता है ।

(१३) प्राणके द्वाराही पिताके सब गुणधर्म स्वभाव और शक्तियां पुत्रमें आतीं हैं ।

(१४) प्राण ही हंस है और यह हृदयके मानस सरोवरमें लीला करता है । जब यह चले जाता है, तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता ।

(१५) शरीरके भाट चक्रोंमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयके केंद्रमें भिन्न रूपसे प्राण रहता है । यह स्थूल शक्तिसे सब शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ गुप्त संबंध रखता है ।

(१६) प्राणमें आलस्य और वकास नहीं होती है । भीति और संकोच नहीं होता । क्योंकि इसका प्रलय अथवा आत्माके साथ संबंध है ।

(१७) यह शरीरमें रहता हुआ सबका पहरा करता है । अन्य इंद्रियां सकती, दमती और सोती हैं, परंतु यह कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं लेता । इसके विश्राम होनेपर मृत्यु ही होता है ।

(१८) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करना चाहिए और उसकी शक्तिसे बलवान् होना चाहिए ।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदोंमें अन्यत्र प्राणविषयक जो जो उपदेश हैं उनका विचार करते हैं ।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश ।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक निम्न मंत्र हैं, उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात हो सकता है । —

प्राणाद्वायुरप्रायत ॥ (अ० १०।१०।११; अ० ११।१।१०)

“परमेश्वरीय प्राणशक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हो गई है । ” यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है । वायुके बिना क्षणमात्र भी जीवन रहना कठिन है । सबही प्राणी इस वायुकी चाहते हैं । परंतु कोई यह न समझे कि यह वायुही वास्तविक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है । यह वायु हमारे फेंफड़ोंके अंदर जब जाता है, तब उसके साथ परमेश्वरकी प्राणशक्ति हमारे अंदर जाती है, और उससे हमारा जीवन होता है । यह भाव है कि जो प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिये । प्राणही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

आयुर्न प्राणः ॥ (अ० १।११।१)

“प्राणही आयु है । ” जबतक प्राण रहता है, जबतक ही जीवन रहता है । इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको उचित है, कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बरवान् बनावें । प्राणका स्थान फेंफड़ोंमें बलवान् करनेसे प्राणमें बल आ जाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है ।

असु-नीति ।

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान “असुनीति” शब्द है । राज्य चलानेका प्रकार राजनीतिसे व्यक्त होता है, इसी प्रकार “असु” अर्थात् प्राणोंका व्यवहार करनेकी रीति “असुनीति” शब्दसे व्यक्त होती है । Guide to life, way to life अर्थात् “जीवनका मार्ग” इस भावको “असुनीति” शब्द व्यक्त कर रहा है, जैसा प्रो० मोक्षमुखा, प्रो. रॉय आदिका कथन माल्य है । देखिए—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो चेहि योगम् ।
ज्येष् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृत्तया न स्वस्ति ॥

(अ० १०।११।१६)

“हे अमुनीते! यहाँ हमारे अंदर पुनः ऋषु, प्राण और भोग धारण करो। सूर्यका उदय हम बहुत देर तक देख सकें। हे अमुनीते! हम सबको स्वास्थ्यसे युक्त रखो।”

“अमुकी नीति” अर्थात् “प्राण धारण करनेकी रीति” जब ज्ञात होती है तब ऋषुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः वसुधै कुरुते प्राप्त की जा सकती है; प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणकी स्थिरता की जा सकती है, भोग भोगनेकी अवश्यकता होनेपर भी भोग भोगनेकी शक्यता हो सकती है। मृत्यु प्राप्त आनेके कारण सूर्य दृश्यान् अवश्य होनेपर भी दीर्घ आयुकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यकी उपलब्धि हो सकती है। ज्ञानभित्तिके अनुकूल मति रखनेमें यह सब कुछ हो सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं। तथा—

अमृनीते मनो अस्मासु धारय जांघातये सु प्र तिरान आयुः।

रात्रि नः सूर्यस्य संदाश घृतेन त्व तन्म्यं यर्धयस्व ॥

(अ. १०।१५।५)

“हे अमुनीते! हमारे अंदर मनकी धारणा करो और हमारी आयु बड़ी दीर्घ करो। सूर्यका दर्शन हम करें। तू धीमे शरीर बढ़ाओ।”

आयुष्य बढ़ानेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है। पहिली बात मनकी धारणा की है। मनकी धारणा ऐसी दृढ़ और पक्की करनी चाहिये कि, मैं भोग साधनादि द्वारा अवश्यही दीर्घ आयु प्राप्त करूँगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु छीन नहीं होगी। इस प्रकार मनकी पक्की धारणा करनेकी चाहिये। मनकी दृढ़ शक्तिपर ही और मनके दृढ़ विचारपर ही किन्दि अवलंबित होती है। सूर्यप्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुप्रसिद्ध है। प्राणापान मारि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बराना चाहते हैं, उनको भी बहुत साधन अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये। प्राणापान बहुत करनेपर भी न स्वामे शरीर कुंठ होता है। हमलिये प्राणापान करनेवालोंको यादवत है कि वे अपने मोजनमें भी अतिशय सावधान रहें।

इस प्रकार यह प्राणनीतिका शास्त्र है । पाठक इन मंत्रोंका विचार करते-
 दीर्घ आसु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणाध्यामादि द्वारा करें ।

यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश ।

प्राणकी वृद्धि ।

प्राणस्त व्याप्यायताम् ॥ (वा य० ६/१५)

“तेरा प्राण संवर्धन करे ।” प्राणकी दारिद्र्य बढानेकी वही ही आवश्यकता है, क्योंकि प्राणही दारिद्र्यके सापक्षी सब अवयवोंकी दारिद्र्य संबंध रखती है । इसकी सुचना निम्न मंत्र दे रहा है—

ऐन्द्रः प्राणो अंगे अंगे निद्राध्यैन्द्र उदानो अंगे अंगे निधीतः ॥

(वा० य० ६/१०)

“(ऐन्द्रः प्राणः) आत्माकी शक्तिसे प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुँचा दे, आत्माकी शक्तिसे प्रेरित उदान प्रत्येक अंगमें रहता है ।” इस प्रकार आंतरिक दारिद्र्यका वजन वेदने किया है । प्रत्येक अंगमें प्राण रहना है परंतु यहाँ आत्माकी प्रेरणाने कार्य करता है । इस मंत्रसे यह सूचना मिलती है, कि जिस अंग, अवयव अथवा इंद्रियमें प्राणकी शक्ति स्थूल होगी, वहाँ आत्माकी प्रबल दृष्ट्याशक्ति द्वारा प्राणको दारिद्र्य बढाई जा सकती है । यही पूर्व सूक्त “आगिरम विद्या” है । अपने हित अंगमें प्राणकी स्थूलता है, इसके जानना और वहाँ अपनी आग्निज दृष्ट्याशक्ति द्वारा प्राणको पहुँचाना चाहिए । यही करना आरोग्य बढानेका उपाय है । वेदमें जो “आगिरम विद्या” है, वह यही है । प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

प्राणं मे पातयानं मे पादि व्यानं मे पादे ॥ वा० य० १३/८/१७

“मेरे प्राण, व्यान व्यानका संरक्षण करो ।” इनका संरक्षण करनेके ही से प्राण सब दारिद्र्यका संशयन कर सकते हैं । तथा —

प्राणं ते शुन्धामि ॥ (वा० य० ६।१४)

प्राणं मे तर्पयत ॥ (वा० य० ६।३१)

“प्राणकी पवित्रता करता हूं। प्राणकी तृप्ति कीजिए।” तृप्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है।

अतृप्त हृदय होनेसे मनुष्य भोगोंकी ओर जाता है, और पवित्र होता है। इस प्रकार भोगोंमें फंसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ खो बैठते हैं। इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और निरयतृप्त धृष्टिसे टपटीत करें। अपवित्रता और असंतुष्टता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं। शक्ति घटाने-वाला कोई कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि—

प्राणं न धीर्यं नासि ॥ (वा० य० २२।४९)

“नाकमें प्राणशक्ति और धीर्य बढ़ाओ।” प्राणशक्ति नासिकाके साथ संबंध रखती है, और जब यह प्राणशक्ति बलवान् होती है, तब धीर्य भी बढ़ता है और स्थिर होता है। धीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियाँ साथ साथ बढ़ती हैं। शरीरमें धीर्य रहनेसे प्राण रहता है, और प्राणके साथ धीर्य भी रहता है। एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली ये शक्तियाँ हैं। जो मनुष्य धीर्यभी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनने हैं, उनका प्राण भी बलवान् हो जाता है, और उनको आसानीसे प्राणायामकी सिद्धि होती है।

तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियमपूर्वक करते हैं, उनका धीर्य स्थिर हो जाता है। यद्यपि किसीका किसी कारणवत् प्रथम आयुमें प्रज्ञाचर्य न रहा हो, तो भी यह नियमपूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणसाधनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और धीर्यरक्षण कर सकता है। जिसका ब्रह्मचर्य आदि प्रारंभसेही मिट्ट होता है, उसको शीघ्र और सहज सिद्धि होती है; परंतु जिसको प्रारंभसे सिद्धि नहीं होती,

उसको वह बात प्रयत्नसे सिद्ध होती है। प्राणशक्तिके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है—

गायन और प्राणशक्ति ।

साम प्राणं प पच । (वा० य० ३६।१)

प्राणको लेकर सामकी जाण लेता हूँ। सामवेद गायन और उपासनाक। वेद है। इस उपासना और हस्तगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढ़ता है। केवल गानविद्यामें भी मनकी एकाग्रता और शांति प्राप्त होती है। इसलिये गायनसे दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त हो सकता है। गायक शोक यदि दुर्घटनाओंमें न फँसे तो वे अन्योक्ति अवस्था अधिक दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है। उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है। मन गायनमें उपामनामें स्थित रहता है और यही स्थिति प्राणशक्तिके प्रवर्धन करनेवाली है। वह बात और है कि गायनका प्रभाव करनेवाले आश्वलाके स्त्रीपुत्रोंके अपने माता पिता बहुत ही गिरा दिये हैं। परन्तु यह दोष गायनका नहीं है, यह उन मनुष्योंका दोष है। तात्पर्य यह है कि जो पाठक अपने प्राणोंको बलवान् करना चाहते हैं, वे सामगान अवश्य सीखें, अथवा साधारण गायन सीखकर उसका उपासनामें उपयोग करके मनकी स्थितिता प्राप्त करें।

अग्नि प्राणापानी । (वा० य० ३६।१)

‘मेरे अंदर प्राण और अपान चलाना हैं।’ यह दृष्टि हर एक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है। परन्तु कभी कभी व्यवहार उत दृष्टिको विवक्षित करता है। जब हृन्ताके अनुसार व्यवहार हो जायगा तब निश्चित ही प्रकाशका विष्णु हो नही सकता। प्रभुत प्राणका प्रकरण बना है, इसका संबंध बाह्यके शुद्ध वायुके साथ है, और अंदरका स्वयं नाभिक। आदि स्थानके साथ है इसलिये कहा है—

ज्ञातं प्राप्तेन अपानेन ज्ञासिके ॥ (वा० य० २५।२)

प्राणमे वायुकी प्रसङ्गता और अपानसे नासिकाकी पूर्तता करना चाहिए ।
ब्राह्म क्षुदि और प्रसङ्ग वायुके साथ प्राण हमारे शरीरमें जाता है, और
नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है । बाह्य वायुकी प्रसङ्गता और नासिकाकी
क्षुदि अवश्य करना चाहिए । नाककी मलिनता और अपवित्रताके कारण
प्राणकी गतिमें रुकावट होती है । प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब
प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंमें मिलती है—

प्राणकी प्रतिष्ठा ।

विश्वस्मै प्राणायामनाय व्यानावादानाय प्रतिष्ठायै चतुर्धाय ॥

(वा० य० १३।१९; १४।१२; १५।१४)

विश्वस्मै प्राणायामनाय व्यानाय विश्वं ज्योनिर्यच्छ ॥

(वा० य० १३।२४; १४।१४; १५।१८)

प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ॥

(वा० य० २२।२३; १३।१८)

अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है, उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढ़ानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जायगा तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि शक्तिके १०० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है तो प्राण संवर्धनमें एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ भी शक्ति नहीं खर्च होती परंतु ग्रांथ इंद्रियभोगके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है !! क्या यह आश्चर्य नहीं है ? वास्तवमें मुख्यके लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए यही वेदमें कहा है, कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका स्वाहा करो। अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार कीजिए। मनुष्योंका उल्टा व्यवहार हो रहा है, इसलिये इस विषयमें सावधानता रखना चाहिए। प्रातिदिनका ऐसा विभाग करना चाहिये कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके। देखिए—

राजा मे प्राणः ॥ (पा० ब. २०।२)

“मेरा प्राण राजा है” सब शरीरका विचार कीजिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सबकुछ राजा है। जब आपके घरमें राजा ही अतिथि आता है, उस समय आप राजाका ही आदरातिथ्य करते हैं, और उनके नौकरोंके तरफ ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितना राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योके विषयमें नहीं दिया जाता। यही न्याय यहां है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथि आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं। इसलिये प्राणकी सेवा श्रद्धा अधिक करना चाहिए, क्योंकि यह ठीक रहा, तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चले गया तो एक भी अनुचर आपकी महायत्ना नहीं कर सकेगा।

आत्रकल इंद्रियोंके भोग बढ़ानेमें सब लोक बने हैं। प्राणकी शक्ति बढ़ानेका कोई व्यास नहीं करता !!! इसलिये प्राण अप्रसन्न होकर शीघ्रही इस शरीरको छोड़ देता है। जब प्राण छोड़ने लगता है, तब अन्य इंद्रिय-शक्तियाँ भी उसके साथ इस शरीरको छोड़ देती हैं। यही अल्पायुताका कारण है। परंतु इसका विचार बहुतही थोड़े लोग प्रारंभसे करते हैं। वात्पर्य इंद्रिय भोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका समयही करना चाहिए; और जो बल होगा उसको अर्पण करके प्राणकी शक्ति बढ़ानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिए। अपने प्राणको घुरे कापोंमें समर्पित करनेसे यही ही हासि होती है। कितने दुर्ग्यसन और कितने कुकर्म हैं कि जिनमें लोक अपने प्राण अर्पण करनेके लिये जानभूसे प्रवृत्त होते हैं !। वास्तवमें सत्कर्मके साथही अपने प्राणोंको जीवना चाहिए। देखिए वेद कहता है—

सत्कर्म और प्राण ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पताम् ॥

(बा० य० १।२१; १।२२; १२।३३)

प्राणश्च मेऽपानश्च मे दधानश्च मे अमुश्च मे

...यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (बा० य० १।२२)

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पताम् ॥ (बा० य० १।२२)

“मेरी आयु यज्ञसे बढे, मेरा प्राण यज्ञसे समर्प हो। मेरा प्राण, अपान, प्यान और साधारण प्राण यज्ञद्वारा बलवान बने। मेरा प्राण यज्ञके लिये समर्पित हो।”

यज्ञका अर्थ सत्कर्म है। जिस कर्मके साथ यज्ञोका सत्कार होता है, सबमें विरोध दृष्टर धृक्ताकी वृद्धि होती है और परस्पर उपकार होता है वह यज्ञ हुआ करता है। यज्ञ अनेक प्रकारके हैं, परंतु सूत्र रूपसे सब यज्ञोका तात्त्व सत्त प्रकारकाही है। इसलिये यज्ञके साथ प्राणका संबंध

जानेसे प्राणमें बल बढ़ने लगता है। स्वार्थ तथा सुदुर्गति कर्मोंमें लगे रहनेसे प्राणशक्ति का संकोच होता है, और जनताके हितके व्यापक कर्म करनेसे प्रयुक्त होनेसे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। आशा है कि पाठक इस प्रकारके शुभ कर्मोंमें अपने आपको समर्पित करके अपने प्राणको विशाल करेंगे। वेदमें अग्नि आदि देवताओंका जहाँ ध्यान आया है वहाँ उनका प्राणरक्षक गुण भी धर्णन किया है। क्योंकि जो देवता प्राणरक्षक होंगी उसकी ही उपासना करनी चाहिए। देखिए—

प्राणदाता अग्नि ।

प्राणदा अपानदा व्यानदा यज्ञोदा चरियोदाः ॥

(या० य० १०।१५)

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ।

घ्रांता म ऽयश्चभ्रपजा मनसोऽसि विलायकः ॥

(या० य० २०।३४)

“तू प्राण, अपान व्यान, तेज और स्वात्म्य देनेवाला है। तू मेरे प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदिका संरक्षक है, मेरे घ्राणीके दीप दूर करने-वाला तथा मनकी शुद्ध और पवित्र करनेवाला है।”

प्राणका सक्रममें प्रदान करना, प्राणका संरक्षण करना, इंद्रियोंका संयम करना, वाचाके दीप दूर करने और मनकी पवित्रताकरना, यह कार्य सूक्ष्मरूपसे उच्चतमंत्रमें कहा है। इतना करनेमें ही ऋषिपुत्रका चेष्टा पार हो सकता है। मन और घ्राणीकी शुद्धता न होनेसे जगत्में कितने अनर्थ हो रहे हैं, इनकी कोई गिनती नहीं हो सकती। मन, घ्राणी, इंद्रियाँ और प्राण इनकी स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये ही सब धर्म और कर्म होते हैं। इन्हें धर्म अर्थात् उपाति चाहनेवालोंको हम कर्तव्यकी ओर अग्रता तथा सदा रखना चाहिए। अब प्राणकी विमूर्ति बतानेवाला अमल मंत्र है, देखिए—

अथ पुरो मुषः । तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः ॥

(वा० ब० १३/५४)

“यह भागे मुखलोक है, उसमें रहता है इसलिये प्राणको भौवायन कहते हैं । वसन्त प्राणायन है।”

भूलोक पृथ्वी है, और अंतरिक्ष लोक मुखलोक है । यह प्राणका स्थान है, इस आकाशमें प्राण व्यापक है, वायुका और प्राणका एकही स्थान है । अंतरिक्षमें ही दोनों रहते हैं । वसन्त प्राणका ऋतु है । क्योंकि इस ऋतुमें सब जगत्में प्राणसक्तिका संचार होकर सब वृक्षोंको नवजीवन प्राप्त होता है । यह प्राणका अवतार हरएकको देखना चाहिए । प्राणके संचारसे जगत्-में कितना परिवर्तन होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ दिखाई देता है । इस ऋतुमें सब वृक्ष आदि मृतम पत्तियोंसे सुशोभित होते हैं, फलोंसे युक्त होनेके कारण पूर्णताकी प्राप्त होते हैं । फल फूट और पतुव ही सब सृष्टि नवजीवनकी साक्षी देते हैं । इसी प्रकार जिनको प्राण प्रसन्न होता है उनकी भी सफलता प्राप्त होती है । जिस प्रकार सब सृष्टि प्राणकी प्रसन्नतासे पुष्पवती और फलवती होती है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्राणको शरा करनेसे अपने जमीनमें सफलता प्राप्त कर सकता है ।

प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास ।

सोनेके समय अपने इंद्रिय कैसे जीन होते हैं और फिर जागृतिके समय कैसे व्यक्त होते हैं, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिए । इससे अपने आत्मा और प्राणसक्तिके महत्त्वका पता लगता है । इसका प्रकार देखिए—

पुनर्मनः पुनराधुमं आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरो अदग्धस्तनूपा
आग्निनः पातु सुरिणाद्वयात् ॥

(वा० ब० ३१/५)

“मेरा मन, आपुष्प, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः मुझे प्राप्त

हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब जनोंका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे।”

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गई थीं, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था। वह सब कलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है ? यह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। प्राणशक्तिके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो घात निद्राके समय होती है वह ही यैसीही मृत्युके समय होती है। और उसी प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम सर्वत्र एकही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियां कैसी रहती हैं, प्राण कैसा जागता है और अन्य इंद्रियां कैसी थक कर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी आत्मशक्तिका ज्ञान होता है, और वह ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विश्वव्यापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण ।

सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् । (बा० य० १।१८)

सं ते प्राणो यातेन गच्छताम् ॥ (बा० य० १।१०)

“अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो। तेरा प्राण भायुके साथ संगत हो।” तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है। वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है। इस दृष्टिसे अपने प्राणको जानना चाहिए। सब संतारिक्षमें प्राणका समुद्र भरा है, उसमेंसे थोड़ासा प्राण मेरे अंदर जाकर मेरे शरीरको जीवन देता है। श्वास प्रश्वास द्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर जा रहा है, इसीसे भावना मनमें घातणकरना चाहिए। तात्पर्य वह सार्वभौमिक दृष्टिसूक्ष्म धारण करनी चाहिए। सबकी उन्नतिमें एकही

ब्रह्म है, समष्टिकी दृष्टिमें व्यक्ति की मछाई है यह वैदिक सिद्धांत है । इसलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रत्येक उपासकके अंदर उत्पन्न होगी चाहे वह उक्त प्रकारसे हो सकती है । इस प्राणकी नीर बातें निम्न अध्यायमें देखिए—

लहनेवाला प्राण ।

अविर्न मेपो नसि धीर्याय, प्राणस्य पंचा अमृतो ग्रहाभ्याम् ।
सरस्वत्युपवाक्यार्ज्यानि नस्यानि बर्हिर्ददृर्जज्ञान ॥

(वा० य० १९।१०)

“(मेघः न) मेंढके समान लहनेवाला (अविः) संरक्षक प्राणवायु धीर्मेके लिये (नसि) नाकमें रखा है । (ग्रहाभ्यां) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है । (बर्हिः उपवाकैः) स्थिर स्तुतियोंके द्वारा (सरस्वती) सुपुत्रा माही (व्यानि) सर्व शरीर व्यापक स्थान प्राणको तथा (नस्यानि) नामिकाके साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः अज्ञान) प्रकट करती है । ”

स्पर्श करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला, मैदा होता है । यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है । सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लड़कर शरीरका आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बड़ा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है । यह मेंढके समान लड़ता है । इसका नाम “अवि” है क्योंकि यह अवन अवान् मनु शरीरका संरक्षक करता है । अवनके अन्य अर्थ भी यहाँ दखने योग्य हैं—रक्षण, गति, कांति, प्रीति, कृति, ज्ञान प्रवेश, श्रवण स्वामिध, प्रार्थना, कर्म, इच्छा, तेज, प्राप्ति, आर्जिगन, हिंसा, दान, याग और वृद्धि इत्यादि अनेक शत्रुके अर्थ हैं । ये सब अर्थ प्राणवाचक “अवि” शब्दमें हैं । प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं । पाठक इन अर्थोंको देखकर अपने प्राणके अर्थ और कर्म जाननेका यत्न करें ।

इतने कार्य करनेवाला संरक्षक प्राण हमारी नासिकामें रहा है। नासिका स्थानीय एकही प्राण हमारे शरीरमें उक्त कार्य करता है। यही इसका महत्व है। यह प्राणका भाग "अ-मृत" मन है। अर्थात् इस मार्गके मरण नहीं है। इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो ग्रह हैं। "आस और उच्छ्वास" ये दो ग्रह इस मार्गका संरक्षण कर रहे हैं। सबको स्वाधीन रखनेवाले, सबका ग्रहण करनेवाले ग्रह होते हैं। आस और उच्छ्वासोंसे सब शरीरका उत्तम ग्रहण हो रहा है, इसलिये ये ग्रह हैं। इन दो ग्रहोंके कार्यसे प्राणका मार्ग मृत्युगदित हुआ है, जबतक आस और उच्छ्वास चलते हैं, तबतक मृत्यु होताही नहीं, इसलिये स्वासोच्छ्वासके आस्ताव-तक शरीरमें 'अमृत' ही रहता है। परंतु जब ये दो ग्रह दूर हो जाते हैं, तब मरण आता है।

"इहा पिंगला और सुषुम्ना" ये तीन नादियाँ शरीरमें हैं। इन्हींमें क्रमसे "गंगा यमुना और सरस्वती" कहा जाता है। अर्थात् सरस्वती सुषुम्ना है। इसमें प्राणकी प्रेरक शक्ति है। स्थिरचित्तसे जो उपासना करते हैं, अर्थात् २४ विज्ञाससे जो परमात्माकी भक्ति करते हैं, उनके अंदर सुषुम्ना द्वारा यह प्राण विशेष प्रभाव बनता है। तापके उपासनोंके साथही प्राणका बल बढ़ता है। ध्यान प्राण वह है कि जो सब शरीरमें व्यापक है, और अन्य नस्य अर्थात् नासिकाके माध्य संवध रखनेवाले प्राण है। इन सब प्राणोंकी प्रेरणा केवल सुषुम्ना करती है। परमेश्वर भक्तिका बल इस सुषुम्नामें बढ़ता है और इसके द्वारा प्राणोंका सामर्थ्य भी प्रकट होता है।

सरस्वतीमें प्राण

इस मंत्रमें प्राणायाम साधनकी बहुवर्ती गुण बातें सरल शब्दोंद्वारा लिखा है, इसलिये पाठकोंको इस मंत्रका विशेष विचार करना चाहिए। इस मंत्रमें जिस सरस्वतीका वर्णन आया है उसीका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिए—

अध्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती धीर्यम् ।

वाचन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ (य. २०।८०)

“अध्विदेव तेजके साथ चक्षु देते हैं, सरस्वती प्राणशक्तिके साथ धीर्य देती है, इन्द्र (इन्द्राय) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इन्द्रिय-शक्ति अर्पण करता है ।”

इसमें सरस्वती जीवनशक्तिके साथ धीर्य देती है ऐसा कहा है । अध्विनौ शब्द भी पूर्वोक्त सुषुम्ना भाटीका वाचक है । अध्विनौ शब्द धन और प्राण शक्तियोंका वाचक है । इस मंत्रमें दो इन्द्र शब्द हैं । पहिला परमात्माका वाचक और दूसरा जीवात्माका वाचक है । इन्द्रिय शब्द आत्माकी शक्तिको वाचक है । कई लोग सरस्वती शब्दका नदी आदि अर्थ लेकर त्रिलोक्य अर्थ करते हैं, इनको यह बात खराग रखनी चाहिए कि वैदिक शब्द आध्यात्मिक शक्तियोंके वाचक मुख्यतः हैं, पञ्चाङ्ग अन्य पदार्थोंके वाचक हैं । अस्तु अब प्राणविषयमें और दो मंत्र देखिए—

भोजन और प्राण ।

१. धाम्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय स्योदानाय
स्या व्यानाय स्या ॥ दौर्धामनु प्रसितिमानुये धौ ॥ (य. १।२०)

प्राणाय मे पचोदा पचसे पयस्य व्यानाय मे पचोदा
पचसे पयस्योदानाय मे पचोदा पचसे पयस्य ॥ (य. ७।२७)

“दधाम्य है । देवोंको धन्य करो । प्राण, ब्रह्म और व्यानके लिये तैराकीका काठा हूँ । आयुष्यके लिये मर्षोदा पारण करता हूँ ॥ मेरे प्राण, व्यान और ब्रह्मके तेजकी वृद्धिके लिये शुद्ध बनो ।”

सात्त्विक धाम्यका आहार हृदियारिक देवोंको शुद्ध, पवित्र और प्रपन्न करता है । सात्त्विक भोजनसे प्राणका बल बढ़ता है और आयुष्य बढ़ता है । शुद्धतामे प्राणकी शक्ति विकसित होती है, इत्यादि बहुत उत्तम भाव

उक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं । तथा और एक मंत्र देखिये—

सहस्राक्ष अग्नि ।

अग्ने सहस्राक्ष शतमृधञ्छतं ते प्राणाः पहरं व्यानाः ।

स्य० साहस्रस्य राय इक्षिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥

(वा. ५. १७. ७१)

“हे सहस्र नेत्रवाले अग्ने ! तेरे सैकड़ों प्राण, सैकड़ों इन्द्रान और सहस्र व्यान हैं । सहस्रों धनोंपर तेरा प्रभुत्व है । इसाकये शक्तिके लिये हम तेरी प्रशंसा करते हैं । ”

इस मंत्रका “सहस्राक्ष अग्नि” आत्मा ही है । शतक्रतु, इन्द्र, सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मावाचक ही हैं । सहस्रतेजोंका धारण करनेवाला आत्माही सहस्राक्ष अग्नि है । प्राण इन्द्रान व्यान आदि सब प्राण सैकड़ों प्रकारके हैं । प्रत्येक प्राणका स्थान शरीरमें निश्चित है । हृदयमें प्राण है, गुदाके प्रातमें अपान है । नाभिस्थानमें समान ह, कंडमें इन्द्रान है और सर्व शरीरमें व्यान है । प्रत्येक स्थानमें छोटे मोटे अनेक अवयव हैं, और प्रत्येक अवयवके सूक्ष्म भेद सहस्रों हैं । प्रत्येक स्थानमें और सूक्ष्मसे सूक्ष्मभेदमें उस उस प्राण ही अवस्थिति है, सारपर्यन्त प्रत्येक प्राणके सैकड़ों और सहस्रों भेद हो सकते हैं । इस प्रकार यह प्राणशक्तिका विस्तार हजारों रूपोंमें सब शरीर और सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंशमें हुआ है । यही कारण है, कि प्राणशक्ति बँट होनेके कारण सब अंग प्रत्यंग अपने आधीन हो जाते हैं और प्राणशक्तिके बँट होनेसे सब शरीरकी निरोगता भी निश्च हो सकती है ।

इस प्रकार अनुर्वेदका प्राणविषयक उपदेश है । अनुर्वेदका उपदेश क्रिया प्रधान होता है । इसलिये पाठक इस उपदेशकी ओर अनुष्ठानकी दृष्टिसे देखें और इस उपदेशको अपने आचरणमें दाननेका यत्न करें ।

सामवेद उपामनात्मक होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है ।

कई ठमको उक्त कारणसे “प्राण वेद” भी सम्मिलित हैं। उपासनाद्वारा जो प्राणका बल बढ़ाना है उतनीही सहायता सामवेदसे इस विषयमें होती है। अन्य बातोंका उपदेश करना अन्य वेदोंका ही कार्य है। इसलिये यहाँ इतनाही लिखते हैं कि जो परमार्थोपासनाका विषय है, उसको प्राणशक्ति-का विकास करनेके लिये पाठक अव्यंत आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको किता कों ॥ अथ अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश देखते हैं—

अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश ।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ (अथर्व० १।१६।१)

मेमं प्राणो हासीमो अपानः ॥ (अथर्व० १।२८।१)

“प्राण अपान मुझे मृत्युसे बचाये। प्राण अपान इसको न छोड़ें।” इन अंग्रेजोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी सहायतामें मृत्युसे संरक्षण होता है। प्राण वशमें आ जायगा तो मृत्युका भय नहीं रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणकी प्रसन्नता करनी चाहिये। देखिए—

प्राण प्राणं आयस्यासौ अन्वये मृड ।

निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥

घातः प्राणः ॥ ५ ॥

(अथर्व० १९।४४)

“हे प्राण ! हमारे प्राणका रक्षण करो। हे जीवन ! हमारे जीवनको सुखमय करो। हे अनियम ! अनियमके पाशोंसे हमें बचाओ।”

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिये, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये। निर्रक्तिके धारोंसे बचाना चाहिये। “कनि” का अर्थ— “प्रगति, उद्यति, सम्मार्ग, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, भाव, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता” इतना है। अर्थात् निर्रक्तिका अर्थ अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष, अवोग्य गति, असम्मार्ग, सेवीचाम, घातपातकी रीति, अपवित्रता यह होता है। निर्रक्तिके साथ जानेवाला नि-संदेह अपोमार्गको पड़े जाय

है। इसलिये इस तेरे मार्ग के भ्रमजाल से बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हर एक मनुष्य, जो उन्नति चाहता है, सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। निरुक्तिके जाल प्रारंभमें बड़े सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु जो उनमें एकबार फंसता है, उनको डठाना पटा मुश्किल प्रतीत होता है। सब प्रकारके दुस्वैसन, भ्रम, भालस, छल कपट आदि सबही इस निरुक्तिके जालके रूप हैं। जो लोग इस जालमें फंसते हैं उनको डठाना मुश्किल हो जाता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले सज्जनोंको उचित है कि, वे हमे सुरे' रालेसे अपने आपको बचावें। योग-साधन करनेवालोंको यह उपदेश अमूल्य है। योगके यम नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है—

मैं विजयी हूँ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।

अस्तुतो नामादमयमसि स आत्मानं नि दधे ध्यायापृथि-

धीभ्यां गोपीध्याय ॥

(अथर्व० ५।१।७)

सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष स्व मेरा आत्मा है, पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकारका मैं अवगमित हूँ। मैं अपने आपको धु और पृथिवी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उस सबके संरक्षणके लिये अर्पण करता हूँ।”

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिही मलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिए। और अपने आन्तरिक दान्तियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रत्युत बाह्य देवताओंके अंग अपने शरीरमें रहे हैं और बाह्य देवताओंके सूक्ष्म अंगोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुत्र हूँ, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका अङ्गरूप, तथा अपने शरीरको देवताओंका संघ अथवा मंदिर समझना चाहिए। योगसाधनमें यही भावना मुख्य है। अपने आपको

निकृष्ट और हीन दीन समझना नहीं चाहिये, परंतु (जहं अस्तुतः अस्मि I am invincible) मैं अपराजित हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिये। दार्शनिक वेदका कैसा उपदेश है, और साधारण लोग क्या समझ रहे हैं। जैसे जिसके विचार होंगे वैसीही उसकी अवस्था बनेगी। इसलिये अपने विषयमें कदापि तुच्छ बुद्धि धारण करना उचित नहीं है। प्राणागाम करनेवाले सज्जनको तो अत्यंत आवश्यक है कि अपने शरीरको देवताओंका मंदिर, कृपियोंका आश्रम समझे और अपने आपको उसका अधिष्ठाता तथा परमात्माका सहचारी समझे। अपनी याचना जैसी बड़ होगी वैसाही अनुभव आ सकता है। वेदमें—

पंचमुखी महादेव ।

प्राणापानौ ध्यानोदानौ ।

(अथर्व० ११।८।२६)

प्राण, अपान, ध्यान, उदान आदि नाम जाग्ये हैं। उप प्राणोंके नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये। किसी अन्य रूपसे होंगे तो पता नहीं। यदि किसी शिक्षाको इस विषयमें ज्ञान हो तो उसको प्रकाशित करना चाहिये। पंच प्राणों पंचमुखी रुद्र है, रुद्रके जितने नाम हैं वे सब प्राणवाचक ही हैं। महादेव, शंभु आदि सब रुद्रके नाम प्राणवाचक हैं। महादेवके पांच मुख जो पुराणोंमें हैं उनका इस प्रकार मूल विचार है। महादेव मूर्ध्वमुख कैसा है, इसका यही निर्णय होता है। शतव्यसे एकादश रुद्रोंका वर्णन है।

कतमे रुद्रा इति । दक्षमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः ।

(शत-भा. १४।५)

“कौनसे रुद्र हैं ? पुरुषमें दस प्राण हैं और ग्याहर्षा आत्मा है। ये ग्याह रुद्र हैं।” अर्थात् प्राणही रुद्र हैं, और इसलिये भव, शर्व, पशुपति आदि देवताके सब स्वरूप अपने अनेक अर्थोंमें प्राणवाचक एक अर्थ भी व्यक्त करते हैं। पशुपति शब्द प्राणवाचक माननेपर पशु शब्दका अर्थ

इंद्रिय ऐसाही होगा। इंद्रियोंका घोंडे, गौर्वें, पशु आदि अनेक प्रकारसे वर्णन कियाही है। इस रीतिसे वेदमें अनेक स्थानमें प्राणकी उपासना दिखाई देगी। आशा है कि पाठक हम प्रकार वेदका विचार करेंगे। इस देखनेमें रुद्रवाचक सब सूक्तोंका प्राणवाचक भाव बतानेके लिये स्थान नहीं है, इसलिये इस स्थानपर केवल दिग्दर्शनही किया है। अग्नि शब्द भी विशेष प्रसंगमें प्राणवाचक है। पंच प्राण, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र आदि शास्त्राद्वारा प्राणकी अग्निरूपता सिद्ध है। इस भावको देखनेसे पता लगता है कि, अग्निदेवताके मंत्रोंमें भी प्राणका वर्णन गौण धृत्तमे है। मध्यस्थानीय देवताओंमें वायु और इंद्र ये दो देवताएं प्रमुख हैं। वायु देवताकी प्राण-रूपता सुप्रसिद्धही है। स्थान साहित्यसे इंद्रमें भी प्राणरूपत्व आ सकता है। इस दृष्टिसे इंद्रदेवताके मंत्रोंसे भी वेदमें प्राणका वर्णन मिल सकता है। इस प्रकार अनेक देवताओं द्वारा वेदमें प्राणशक्तिका वर्णन है। किसी स्थानपर स्पष्टिदृष्टिमे है और किसी स्थानपर स-स्पष्टिदृष्टिमे है। यह सब प्राणका वर्णन एकत्र करनेसे प्रयोजन बहुत हो सकता है, इसलिये यहां केवल उतनाही लेख लिखा जाता है कि जिन मंत्रोंमें स्पष्ट रूपसे प्राणका वर्णन आया है। अब प्राणकी सत्ता कितनी व्यापक है, उसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें देखिये—

प्राणका भीठा चायुक ।

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्र्योऽनरेत प्राहुः॥

यत एतन्मनुकशा रराणा तत्प्राणस्तस्मिन्निविष्टम् ॥ १ ॥

मानादित्यानां दुहिता यस्मूनां प्राणः प्रजानामस्मृतस्य जाभिः ॥

दितृण्ययर्णा मधुकशा घृताचो महान्गर्भश्चरन्ति मर्त्येषु ॥ ४ ॥

(अथर्व० १११)

“(अस्याः) हम पृथिवीकी और समुद्रकी बड़ी (रेतः) शक्ति व है ऐसा सब कहते हैं। जहांसे चमकता हुआ भीठा चायुक चटता है वहां से

प्राण और वह ही अमृत है ॥ आदिन्योंकी माता वसुओंकी दुहिता, प्रजा-
ओंका प्राण और अमृतकी नामि यह भीठा चाबुक है । यह तेजस्वी, तेज
उत्पन्न करनेवाली और (मर्त्येषु गर्भः) मर्त्योंक अंदर संचार करनेवाली,
है ॥ ”

इस मंत्रमें “मधु कशा” शब्द है । “मधु” का अर्थ भीठा स्वादु है ।
और “कशा” का अर्थ चाबुक है । चाबुक घोड़ा गाड़ी चढ़ानेवालेके पास
होता है । चाबुक मारनेसे गाड़ीके घोड़े चलते हैं । उक्त मंत्रमें “मधु कशा”
अर्थात् भीठा चाबुकका वर्णन है । यह भीठा-चाबुक आश्विनी देवोंका है ।
आश्विनी देव प्राणरूपसे नासिका स्थानमें रहते हैं प्राण अपान, श्वास,
उच्छ्वास, दाँये और बाँये भागका श्वास यह आश्विनीदेवोंका प्राणमयरूप
शरीरमें है । इस शरीरमें आश्विनिरूप गणोंका ‘भीठा-चाबुक’ कार्य कर रहा
है और शरीररूपी रथके इंद्रियरूप घोड़ोंको चला रहा है । इस चाबुकका
वह स्वरूप देखनेसे वेदके इस अद्वितीय और विलक्षण अलंकारकी कल्पना
पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है । यह गणोंका भीठा चाबुक हम सबको
प्रेरणा कर रहा है । इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई कार्य होता
नहीं है । इतनाही नहीं वरन् सब जगत्में यह ‘भीठा चाबुक’ ही सबको
अति दे रहा है । सब जगत्में यह प्राणका कार्य देखनेयोग्य है । मंत्र
कहता है कि “इस भीठे-चाबुकमें पृथ्वी और जलकी सब शक्ति रहती
है । जइसे यह भीठा चाबुक चलाया जाता है वही ही प्राण और अमृत
रहता है । ” प्राण और अमृत एकत्रही रहता है, क्योंकि जबतक शरीरमें
प्राण रहता है, तबतक मरणही भोगि नहीं होती । और सब ही जानते हैं
कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणही सबका प्रेरक है, हमीलिये उसके चाबुक-
की कल्पना ठक मंत्रमें कही है । क्योंकि शरीररूपी रथके घोड़े चढ़ानेका
कार्य यह ही चाबुक कर रहा है । दूसरे मंत्रमें कहा है कि “यह चाबुक
शरीररूप पशु आदि देवताओंका महायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है,
अमृतका मध्य यह ही है । यह प्राण मर्त्योंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता

है, और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है ।" यह वर्णन उत्तम अहंकार-
से युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उद्देश जान सकता
है ।

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता ।

नसोः प्राणाः ॥

(अ० १९।६०)

धोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्यच्छिन्ना ययमायुषो
घर्चन् ॥१॥

(अ० १९।५८)

अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुत मे चक्षुरयुत मे धोत्र-
मयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानाऽयुतो मे व्यानोऽयुतो
ऽह सद्यः ॥१॥

(अ० १९।५१)

"मेरे नाकमें प्राग स्थिरतामें रहे । मेरा कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न
न होता । हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे । मेरी आयु और भोज अविच्छिन्न
अपार दीप्त होय । मैं अपना आत्मा, चक्षु, धोत्र, प्राण, अपान, व्यान
आदि सब मेरी शक्तियों पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहें ॥ "

आयु और प्राग अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रवृत्ति इच्छा
उक्त मंत्रमें है । सब इंद्रियां तथा सब अन्य शक्तियां अविच्छिन्न तथा पूर्ण
उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये ।
'उक्त मंत्रमें कई शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—

अहं अयुतः ।

अहं सद्यः अयुतः ।

"मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दूसरे किसीकी सहायताकी अपेक्षा न करने-
योग्य समर्थ, किसी कहते लिखिकी न मचनेयोग्य रहूँ । " यह
भावना यदि मनमें आ जायगी तो मनुष्यकी शक्ति किन्ती बढ़ सकती है
इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं । मेरी इंद्रियां, मेरे प्राग तथा मेरे

अन्य अवयव ऐसे दृढ़ और बलवान् होने चाहिए कि मुझे उनके कारण कभी क्लेश न हो सके, तथा किसी दूसरी शक्तिकी अपेक्षा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनन्दसे अपने महान् महान् पुरुषार्थ कर सकूँ। कोई यह न समझे कि यह केवल ख्यालही है। परंतु मैं यहाँ कह सकता हूँ कि यदि मनुष्य विश्रय करेंगे, तो निःसन्देह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उक्त शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं। तथा—

प्राणकी मित्रता ।

इदं प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् ।

पर्यहमायुगं चर्यसाधयामि ॥ (अथर्व. १३।१।१७)

“यहाँ ही प्राण हमारा मित्र बने। हे परमेष्ठिन् ! अपने आयुष्य और तेजके साथ आपकी ही मैं भावना करता हूँ।” प्राणके साथ मित्रताका साधन इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण बलिष्ठ होकर रहे। कभी कल्प आयुमें प्राण दूर न हो, अपने आयुष्यमें परमेष्ठी परमात्माकी ही सेवा और उपासना करनी चाहिए। परमात्मा सर्वश्रेष्ठ गुणोंका केंद्र होनेसे परमात्मविजयता तथा ही श्रेष्ठ सत्त्वोंका ध्यान होता है और मनुष्य जिसका सदा ध्यान काता है, उसके समान बन जाता है, इस नियमके अनुसार परमेष्ठरके गुणोंके विगनने मनुष्य भी श्रेष्ठ बनता है। यह उपासनाका और मानवी दक्षतिका संबंध है। इस प्रकार जो सत्पुरुष अपनी प्राणशक्तिको चलाता है, उसकी प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है, इसकी कल्पना निम्न श्रेणोंसे हो सकती है। देखिए—

तस्य मातृस्य ॥ सप्त प्राणाः उत्तापानाः सप्त व्यानाः ॥

योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥

योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रोदो नायासौ स आदित्यः ॥

योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूदो नामासौ स चन्द्रमाः ॥

योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभुर्नामायं स पवमानः ॥

योऽस्य पंचमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा अपः ॥

योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इम पशवः ॥

योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥

(अथर्व० १५।१५।१-९)

“उस (प्राणस्य) संख्याहीन सत्पुरुषके सात प्राण, सात अपान, सात ध्यान हैं । उसके सातों प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व, ग्रीव, अभ्युद, विभू, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं । और उनके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चंद्रमा, पवमान, आपः, पशु और प्रजा हैं । ” इसी प्रकार इसके अपान और ध्यानका वर्णन उक्त स्थानमें ही बेदने किया है । वही ही उसको पाठक देखें । विस्तार होनेके मयस उस सबको वहाँ नहीं लिया है । मनुष्य अपनी वास्तविकी इस प्रकार बढ़ा सकता है । जो मनुष्य अपने सातों प्राणोंको अपरिमित रूपमें बढ़ा सकता है, वह ही अपने आरको सब प्रजाजनोंके हितके कायमें अर्पण करता है । जो अपने प्राणको ऊर्ध्व अर्थात् उष्ण करता है, वह अग्निके समान तेजस्वी होता है । इत्यादि प्रकार उक्त कथनका भाव समझना चाहिए । तथा—

समयही अनुकूलता ।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।

कालेन सर्वा नदन्त्यगंतन प्रजा इमाः ॥३॥

(अथर्व० १५।५२)

“कालकी अनुकूलतासे मन, प्राण और नाम रहता है । कालकी अनुकूलतासे सब प्रजाओंको आनंद होता है । ”

कालका नियम पालन करना चाहिए । पुरुषार्थके माय कालकी अनुकूलता होनेसे उच्चतम फल प्राप्त होता है । कालका धिक्कार नहीं करना चाहिए । जो अनुकूलता प्राप्त होती है उसका उपयोग अवश्य करना

चाहिए। प्राणायामादि साधन करनेवालेको उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना अभ्यास किया करे, तथा जिस समय जो करना योग्य है उसको अवश्य ही उस समय करना चाहिए। अब प्राणके संरक्षक क्रियाओंका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिये—

प्राणरक्षक ऋषि ।

अधुरी बोधप्रतीबोधाचम्यजो यक्ष जागृषिः ।

सी ते प्राणस्य शांतारौ दिष्टा नक्त च जागृताम् ॥

(अधर्ष० पृ ३०।१०)

“बोध और प्रतिबोध अर्थात् स्फूर्ति और जागृति ये दो ऋषि हैं। ये दोनों तेरे प्राणकी रक्षा करते हुए दिनरात जागते रहें।”

प्रत्येक मनुष्यमें ये दो ऋषि हैं। ‘स्फूर्ति और जागृति’ ये दो ऋषि हैं। एक उस्ताहकी मेरणा करता है और दूसरा स्तवधान रहनेकी चेष्टा देता है। उस्ताह और सावधानता ये दो मङ्गल जिस मनुष्यमें जितने होंगे, उतनी यावत्ता उव मनुष्यकी हो सकती है। ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते हैं, और यदि ये दिनरात जागते रहेंगे तो मनुष्यको मृत्युकी बाधा नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यका मन उस्ताहसे परिपूर्ण रहेगा और जबतक स्तवधानताके साथ वह अपना व्यवहार करेगा, तबतक उसको मरणकी भांति नहीं होगी, यह साधारण नियम समक्षिये।

जो लोग अभावधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते हैं, तथा जो सदा हीन दान और दुर्बलताके ही विचार मनमें धारण करते हैं, उनको इन मंत्रका भाव ध्यानमें धारण उचित है। वेद कहता है कि मनमें उस्ताहके विचार धारण करो और प्रतिक्षण सावधान रहो। जो मनुष्य अपने मापको वैदिक धर्म समझता है, उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनुकूल भाव धारण करे। वैदिक धर्म मनुष्यको उचित नहीं कि वह वेदके विरुद्ध हीन और दानताके विचार अपने मनमें धारण

करके मृत्युके घनामें होवे । वैदिक धर्मका विशेष उद्देश सर्वसाधारण जनता-
की आयुष्यवृद्धि और आरोग्यवृद्धि करना है, इसीलिये स्थान स्थानके वैदिक-
सूक्तोंमें दीर्घायुत्वके अनेक उपदेश आते हैं । पाठक इन बातोंको ठीक-
प्रकार अपने मनमें धारण करें ।

वृद्धताका धन ।

प्र विशतं प्राणापानावनद्वाहायिष व्रजम् ।

अथ जरिष्णः शेषाधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥१॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।

आयुर्नो विश्वतो दधद्यमग्निर्वरेण्यः ॥६॥

(अथर्व० ७।५३)

“जिस प्रकार बैठ करने स्थानपर वपिम आते हैं, उस प्रकार प्राण
और अपान अपने स्थानपर आ जावें । वृद्धावस्थाका जो खजाना है, वह
यही कमन होता हुआ बढ़ता रहे । तेरे अंदर प्राणको प्रेरित करता हूँ
और बीमारोको दूर कँकटा हूँ । यह धेड़ आँसु हम सबको सब प्रकारके
दीर्घ आयु देवे ।”

‘बैल शामके समय योगसे अपने स्थानपर आ जाते हैं । इस प्रकारके
बलशुक्त योगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें रहें । जब प्राण और
अपान बलवान् बनकर अपना अपना कार्य करेंगे, तब मृत्युका भय नहीं
हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयुस्वरूपी धन प्राप्त कर सकता है । मर-
घर्नेमें आयुस्वरूपी धन ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि सब अन्य धनोंका
अपयोग इसके होनेपर ही हो सकता है । उक्त मंत्रमें —

जरिष्णः शेषाधिः इह वर्धताम् ॥ (अथर्व० ७।५३।५)

ये शब्द मनन करनेयोग्य हैं । ‘वृद्ध आयुका खजाना यही बढ़ता
रहे ।’ अर्थात् इस लोकमें आयु बढ़ती रहे । ये शब्द स्पष्टतासे बता
रहे हैं कि आयु निश्चित नहीं, प्रापुष्ट बढ़नेवाली है । जो ‘मनुष्य अपनी

आयु बढ़ाना चाहेगा वह उस प्रकारके आयुश्रवर्धक सुनिश्चयोंका पालन-
कारके आयु बढ़ा सकता है। इस प्रकार वेदका उपदेश अत्यंत स्पष्ट है।
परंतु कई वैदिक धर्मोपसंगत ही हैं कि आयु निश्चित है और घट बढ़
नहीं सकती। जिन बातोंमें वेदका कथन स्पष्ट है उन बातोंमें कमसे कम
भिन्न विचार वैदिक धर्मियोंको धारण करना उचित नहीं है।

बोध और प्रतिबोध।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो शब्द हैं, वेसा कहाँ ही है। वही
आद्य बोधसे फारसे निम्न मंत्रमें आया है, देखिये—

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनयद्राणश्च
रक्षताम् । गोपायंश्च त्वा, जागृविश्च रक्षताम् ॥ (अ० ८।१।१३)

“उत्साह और सावधानता से रक्षण करें। स्फूर्ति और जागृति से
संरक्षण करें। रक्षक और जागृत से पालन करें।”

इस मंत्रमें संरक्षक गुणोंका वर्णन है। उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति,
जागृति, रक्षण और सारदाही ये गुण संरक्षण करनेवाले हैं। इनके विरुद्ध
गुण घातक हैं। इसलिये अपनी अभिवृद्धि की रक्षा करनेवालेको उचित
है कि वह उक्त गुणोंकी वृद्धि अपनेमें करे। इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र,
जिसमें दो शब्दोंका वर्णन है, तुलना करके देखें। अब निम्न मंत्र देखिये—

उन्नाति ही तेरा मार्ग है।

उद्यानं ते पुण्यं नाद्ययानं जीवातं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहमममृतं सुखं रघमथ जिर्विर्विदधमा चदासि ॥

-(अ० ८।१।१४)

“हे मनुष्य ! तेरी गति (उद्यान) उत्पत्तिकी ओर ही होनी चाहिये।
कभी भी (अब यानं) अवनतिकी ओर होनी नहीं चाहिये। तेरे दीर्घ

आयुष्यके लिये मैं बैलका विस्तार करता हूँ। इस सुखमय शरीररूपी अमृतमय रथपर (आरोग्य) चढ़ो। और जब तुम दीर्घ आयुसे युक्त हो जाओगे तब (विद्वत्) सभाओंमें (आवदासि) संभाषण करोगे।”

अपना अमृतद्वय करनेका यत्न करना चाहिए, कभी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिए कि जिससे अवमति होनेकी संभावना हो सके। जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिए। प्राणका बल बढ़ानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। यह शरीररूपी उत्तम रथ है जिसको इंद्रियरूपी दस घोड़े जांते हैं। इस रथमें प्राणरूपी अमृत है, इसलिये इसको सुखमय रथ कहा जाता है। इस सर्वोत्तम रथपर आरुढ़ हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें जाओ यही। जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुमको बड़ी बड़ी सभाओंमें अवश्यही संभाषण करना होगा, क्योंकि दूसरोंका सुधार करनेके लिये तुमका प्रयत्न करना चाहिए। जीवनार्थ मुझमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य तुम्हाराही है। तुमको स्वार्थी बनना नहीं चाहिए, प्रयुक्त जनताकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणावामाद् साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य, अद्वितीय बल, सूक्ष्म बुद्धि और विशाल मन प्राप्त करनेके पक्ष में मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितका साधन करनेमें लगाना चाहिए। समाजसे अलग होकर अपनी ही शोख प्रत्य करनेमात्रसे मनुष्य कृतकाम नहीं हो सकता, परंतु जब एक “नर” अपने आपको उन्नत करनेके पक्ष में “वेध-नर” के लिये आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उद्योग, अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। यही मय-मेघ-यज्ञ है। अमृत। इस प्रकार उक्त मंत्रने योगी मनुष्यके सम्मुख अनिमित्त उच्छ आदर्श रख दिया है। आशा है कि, सब छत्र मनुष्य इस धार्मिकआदर्शको अपने सम्मुख रख कर अपना जीवन इसके अनुसार ढांकनेका यत्न करेंगे। जब अन्य बातोंका विचार नहीं करना है। योगाजनोंका अधिकार कहाँ तक पहुँचता है, इसका पता निम्न संश्लेष से लग सकता है—

यमके दूत ।

कृणोमि ते प्राणाशनौ जगं मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
 वैवस्वतन प्रहितान् यमदूतांश्चरतापमेवाग्निं सर्वान् ॥११॥
 आरादगतिं निर्रंति परे प्रादि कव्यादः पिशाचान् ।
 रक्षा यत्सर्वं दुर्भूत तत्तम इवाप हन्मसि ॥१२॥
 अग्नेष्टे प्राणमसृताद्यायुध्मनो वन्वे जातवेदमः ।
 यथा न रिप्या भूमनः सजूरसस्तत् ते कृणामि तदुने
 समृध्यताम् ॥१३॥ (अ० ८।१)

“मैं तेरे भंडा प्राण और जपानका बल, दीर्घ आयु, (स्वस्ति) स्वास्थ्य
 आदि सब अच्छे भाव, वृद्धावस्थाके पश्चात् योग्य समयमें मृत्यु आदि
 स्थापन करता हूँ। वैवस्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंको मैं हूँ हूँ
 कर दूर करता हूँ ॥ (आराति) अदावन, (निर्रंति) नियमबिरुद्ध व्यव-
 हार, (प्रादि) देरसे चलनेवाले रोग (कव्यादः) मानको क्षाण करने-
 वाली बामारी, (पिशाचान्) रक्तको निर्बल करनेवाले रक्तके कृमि,
 (रक्षा = क्षर) सब क्षयके कारण, (सर्वं दुर्भूतं) सब बुरा व्यवहार
 आदि जो कुछ विकारक हे उम मनुष्यको भेदकाके समान मैं दूर करता
 हूँ ॥ तेरे लिये मैं तेजस्वा, अमर और आयुध्मान् जातवेदसे प्राण प्राप्त करता
 हूँ। जिन प्रकार तेरा भकाकमृत्यु न होगा, तू अमर अर्थात् दार्घजीवी
 बनोगे, (सजूर) मित्रभावसे मंतृष्ट रहोगे और तुम्हें कष्ट न होगा, उस
 प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूँ ॥”

इन मंत्रोंमें प्राण साधन करके जो गिलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका
 उत्तम वर्णन है। प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका स्वास्थ्य, दीर्घ
 आयु, बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकता है। प तु प्राणका बल न
 होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और भकाक
 मृत्यु होते हैं। इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति, बढ़ानेकी आवश्यक-

कता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि, यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं। इसलिये आयु बढ़ नहीं सकती। इस भवैदिक मतका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है। इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है। अनुष्ठानकी रीतिसे प्राणका बल बढ़ाए, तो उसी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं। प्राणोपासना करनेवालोंके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका अभयदान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मीका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। इस विचारको धारण करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्वास्थ्य भी प्राप्त करना चाहिए। प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह यमदूतोंको भी दूर भाग सकता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होता है इसलिये ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महारव वर्णन करते हैं।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि, दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं। दुष्ट भाव, बुरा आचार, विधिविधर्मोंके विरुद्ध व्यवहार आदि सब दोष इस अभ्याससे दूर होते हैं। सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निमूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है।

जो सब बने हुए पदार्थोंको संभावित्त्व जानता है, वह आत्मा "आत्मेव अग्नि" है वह आत्मा अमृतरूप तथा आयुष्मान् है। इसलिये वह ही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है। जो उसके साथ अपने आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं, वे अपने आपको दीर्घ आयुसे युक्त

और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं। इस प्रकारके साधन संपन्न योगी अष्टाष्ट मृत्युसे मरते नहीं, अमर बनते हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं। यही सच्ची समृद्धि है। मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिको प्राप्त करे।

अथर्वाका सिर ।

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना और मनकी सब वृत्तियोंको स्वाधीन रखकर उनको अच्छेही कर्ममें लगाना योग कहलाता है। इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं। योगीके अंदर चंचलता नहीं रहती और वह स्थिरता मनोवृत्तियोंमें शोभा बढाने लगती है। इस प्रकारके योगीका नाम 'म-यथा' होता है। 'म-चंचक' यह अथर्वा शब्दका भाव है। एकाग्रताकी निधि उसको प्राप्त होती है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद है। अथर्ववेद सर्व सामान्य मनुष्योंके लिये नहीं है। योगसाधनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा सिद्ध अवस्थाकी आते इसमें होनेसे यह अथर्ववेद योगियोंका वेद है। इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इस वेदमें अथर्वाके सिरका अर्थात् निम्न प्रकाश किया है—

मूर्ध्नात्मस्य संसोप्याथर्वा हृदयं च यत् ॥
 मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयाः पश्चमानोऽपि शीर्षतः ॥२६॥
 तद्वा अथर्वणः शिरो देयकोशः समुज्जितः ॥
 तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो यद्यमयो मनः ॥२७॥
 यो वै तां प्रक्षणां वेदामृतेनामृतां पुरम् ॥
 तस्ये प्रक्ष च प्राप्ता च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
 न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ॥
 पुरं यो प्रक्षणां वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोष्या ॥
 तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गा ज्योतिषावृतः ॥३१॥
 तस्मिन् हिरण्मय कोशे ज्यरे त्रिप्रतिष्ठित ॥
 तस्मिन् यद्यश्मात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
 प्रभ्राजमानां हरिणा यजन्ता सं पवित्रताम् ॥
 पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा प्रविवेक्षापराभिताम् ॥३३॥

(अ. १०।२)

“(अ. १०।२) स्थिरचित्त योगी अपने (मूर्धानं) मस्तिष्क के साथ हृदयको सीठा है, और सिरके मस्तिष्कके ऊपर अपने (पदमानः) प्राणको भेज देता है ॥ वह ही अर्थात् सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है ॥ उसका रक्षण प्राण, मन और मन करता है ॥ अमृतसे परिपूर्ण, इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानना है, उसको ब्रह्म और इनर देव चक्षु प्राण और प्रमा देते हैं ॥ वृद्धावस्थाक पूर्व चक्षु और प्राण उसको छोड़ते नहीं ॥ जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, और जिसमें रहनेके कारण आत्माको पुरा कहते हैं ॥ नाभ चक्र और ना द्वारोंसे युक्त वह देवोंकी अयोध्या नगरी है, इसमें तजस्वी कोश है वह ही देहाप्यमान स्वर्ग है। तीन द्वारोंसे युक्त और तीन स्थानोंपर रहे हुए उस तेजस्वी काशमें जो पूर्य आत्मा है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोक जानते हैं ॥ इस देहाप्यमान महादर यज्ञस्वी और अपाजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है ॥”

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अगूह्य है। इसमें सबसे पहिली बात यह कही है कि हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार है। भक्ति और विचारना भिन्न नहीं होना चाहिये। दोनों एक ही कार्यमें सम अधिकारसे प्रवृत्त होने चाहिये। जहाँ वे दोनों बँट विभक्त होने हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं। धर्ममें विभेदनः मस्तिष्ककी रुकना और हृदयकी भक्तिसे समान स्थान मिलना चाहिये। जिस धर्ममें इनको समान स्थान नहीं होता, उस धर्ममें बड़े दाव होने हैं। शिखाविभाग-से भी मस्तिष्क और हृदयका सम विकास होने योग्य शिक्षा होती चाहिये।

जिस ज्ञानमें केवल मस्तिष्ककी शक्तशक्ति चढ़ती है, उस ज्ञानप्रणाकीसे, भाविकता उत्पन्न होती है और जिससे केवल भाविक चढ़ती है, उस प्रणाकीसे अंधविश्वास बढ़ता है। इसलिये तर्क और भाविकता समविकास होनेसे, दोनों दोष दूर होते हैं और सब प्रकारकी उत्पत्ति होती है। योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तिष्ककी शक्तशक्ति और हृदयकी भाविक समग्रमाणमें विकसित करे। यही आर्य "मूर्धा और हृदयकी सीने" के उपदेशमें है। दोनोंको सीकर एक करना चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित करना चाहिए।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति ।

"मस्तिष्कके ऊपरके स्थानमें प्राणको प्रेरित करना" यह दूसरा उपदेश उक्त मंत्रोंमें है। मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और इसके भाँचे पृष्ठवंशके साथ कई चक्र हैं। प्राणावायुद्वारा नाभसे एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है। और सबसे अंतमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है, इस अवस्थासे पूर्व पृष्ठवंशके नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार होता है। तापत्रास मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुँचता है और ब्रह्मधृतक प्राणकी गति होती है। यह प्राणकी सर्वोत्तम गति है। यही ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ आत्माकी गति होनेसे, उस अवस्थामें मुमुक्षुकी ब्रह्मलोकप्राप्ति होती है। इसलिए इस अवस्थाको सबसे अष्ट अवस्था कहते हैं। यह सबसे अष्ट अवस्था प्राणावायुके नियमपूर्वक अभ्याससे प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनवाली अवस्था है।

देवोंका कोश ।

अथर्वा अथर्व योगीका उक्त प्रकारका सिर, सप्तमुख देवोंका आशाना है। इस प्रकारके अथर्वसिरमें सब दिव्य माधनार्ण रहती हैं। सब दिव्य अष्ट देवी शक्तियोंका निवास उसके अंदरमें होता है, इसलिये उसका देह

अयोध्याका राम ।

इस नगरीमें जो पूजनीय देव है वह ही आत्माराम है, उसको महाशयी लोक ही जानते हैं, अन्योको उसका पता नहीं लग सकता ।

इस यशस्वी नगरीमें विजयी महा प्रवेश करता है, जीवामा जब आसुरी भावनाओंपर विजय प्राप्त करता है, तब वह अपनी राजधानीमें विजयोत्सव करता हुआ प्रवेश करता है । यह राजधानी अयोध्या नगरी यशसे परिपूर्ण है, दुःखोंका हरण करनेवाली है और संशयसे प्रकाशित है । इसका पराजय आसुरी भावनाओंके द्वारा कभी हो ही नहीं सकता । इसलिये इसका नाम ही " अपराजित अयोध्या " है । अपने हृदयकी इस शक्तिको जानना चाहिए । ' मैं अपराजित हूँ । दुष्ट भावोंसे मैं कभी पराजित नहीं हो सकता । मैं सदा विजयी ही रहूँगा । मेरा नामही " विजय " है । ' इत्यादि भाव उपामकको अपने अंदर धारण करने चाहिए । ' मैं हीन हीन दुर्बल और अधम हूँ ' इस प्रकारके भाव कदापि मनमें धारण नहीं करने चाहिए । ये अवैदिक भाव हैं । इस संग्रहमें आत्माका विजयी स्वरूप बताया है । जाता है कि वैदिक धर्मोत्पन्न इस भावको धारण करेंगे ।

अपने आत्माकाही यह वर्णन है । आत्मा किये प्रहारके भावसे पराजित होता है और किस भावनाके धारण करनेसे विजयी होता है, इसका सूक्ष्म वर्णन इसमें दिया है । आत्माकी प्रज्ञा है । यह हृदयकमलमें निवास करता है, संसर्गार्थ प्राप्त उसका वाहन है, यही देवोंकी पुरी आभासवादी है, यही सब कुछ है । पाठक ध्यान करते अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय संपादन करें ।

जब चारों-पक्षोंमें अनेक संग्रोहांग जो जो उपदेश ऊपर दिया है उसका सारांश नीचे देता हूँ, जिसको पढ़नेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

(२) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ मिल-संबंध है।

• (२) जितना प्राण होता है उतनी ही वायु होती है। इसलिये प्राण-शक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

• (३) प्राणरक्षणके नियमोंके अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढ़ता है, प्रयुक्त पदार्थ आदि सबही इंद्रियों, अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढ़ती है, और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारोंकी धारणा करनेसे बड़ा लाभ होता है।

(५) सूर्यप्रकाशका सेवन तथा भोजनमें घीका सेवन करनेसे प्राणायामकी शीघ्र सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिक साथ प्ररित प्राण शरीरक अंगमें जाकर वहाँके स्वास्थ्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है।

(७) एकही प्राणके प्राण 'अपान' व्यास, 'उदान' और 'समान' ये भेद हैं, 'यथा अन्य उपप्राण भी उन्नीक भेद हैं।

(८) सतोषवृत्ति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढ़ता है।

(९) प्राणका वीर्यके साथ संबंध है। वीर्यरक्षणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे वीर्यकी स्थिरता होती है, इस प्रकार इनका परस्परसंबंध है।

(१०) परमेस्वरकी उपासना और समीपका अध्ययन इन दोनोंसे प्राणका बल बढ़ जाता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब अन्य इंद्रियोंके सुखोंकी त्यागना चाहिए, अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि करना नहीं चाहिए।

(१२) सब शक्तित्रयोंमें प्राणशक्तिही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा, मन और कर्ममें शुद्धता और पवित्रता रखना चाहिए इससे बल बढ़ता है।

(१५) सोनेके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियां किम प्रकार आत्मामें क्षीन होती हैं, और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त रूपमें कार्य करने लगती हैं, इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अभ्याससे आत्माकी विकक्षण शक्ति जानी जाती है।

(१६) संपूर्ण रोगबीजों और शारीरिक दोषों को प्राण ही दूर करता है जबतक प्राण है, जबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) भोजनके साथ प्राणशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदिका संबंध है इसलिये देमा उत्तम साधिक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदिकी वृद्धि कर सके।

(१८) सहस्रों सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राणसंवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीन होकर अकालमृत्यु आता है। इसलिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तिको रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि, वायु, रवि आदि साद्य देवताएं अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रहती हैं। इस प्रकार अपना शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं उन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूं। यह भावना मनमें स्थिर करना चाहिये और अपने आपको उक्त भावनारूप समझना चाहिये।

(२१) अपने आपको अपराजित, विजयी और शक्तिका केंद्र मानन ठावित है।

(२२) प्राण ही रुद्र है। रुद्रवाचक सब शब्द प्राणशब्द हैं।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर क्या बड़ी विकक्षण शक्ति है।

(१३) मैं पुरुषार्थसे अवश्यही अपनी सब क्षमताओंका विकास करूंगा, ऐसा दृढ़ निश्चय करना योग्य है ।

(१५) अपने आपको कभी हीन दीन दुर्बल नहीं समझना, परंतु अपने प्रयासका योग्य ही सदा देखना चाहिए ।

(१६) जगत्में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कट दे सकेगी । मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूं । वह मात्र मनमें रखना चाहिए ।

(१७) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मेरा मित्र है, इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा स्वको भयना भिता, माना, माई आदि समझना । उसमें और मेरेमें स्थान काल आदिका भेद नहीं है ।

(१८) योग्य कालमें योग्य कार्य करना । कालकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर नहीं करना । आजका कर्तव्य कलके लिये नहीं रखना ।

(२५) स्फूर्ति और जागृति प्राप्त करनेसे उन्नति होती है ।

(३०) दीर्घ आयु ही बड़ा धन है, उसको और भी बढ़ाना चाहिए । निर्दोष बननेसे उस धनकी सुविधि होती है ।

(३१) असाह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, स्वसंरक्षणकी भावना और योजनासे उन्नतिका साधन किया जा सकता है ।

(३२) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए । ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके ।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब खनताही उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए । खोपनका यही उद्देश्य है ।

(३४) संपूर्ण अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपना विजय संग्रह करना चाहिए ।

(३५) हृदयकी शक्ति और भास्तिष्ठका शक्ति इन दोनों शक्तियोंको

‘एक ही सत्कांक्षमें उभारना चाहिये, तथा इन दोनोंका सम विकास करना चाहिये ।

(३९) योगीका सिर सचमुच देवोंका वसतिस्थान है ।

(३७) अपने ही हृदयमें प्रक्षमगरी है, वह ही स्वर्ग और वह ही अमरावती है । यही देवोंकी जयोप्या है । मन्त्रज्ञानी इसको ठीक प्रकार जानते हैं ।

(३८) जो आत्मशक्तिका विकास करता है, वह ही स्वकीय गौरवके साथ इस अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है ।

(३९) प्राणको अपने स्वाधीन करके मस्तिष्कके ऊपर भेजना चाहिये । जहाँ विचारोंकी गति नहीं है, वहाँ पहुँचना चाहिये । वह ही आत्माका स्थान है ।

(४०) निश्चयके साथ पुरुषार्थ-प्रयत्नसे उन्नतिके पथपर चढ़नेवाला योगी अपनी सब प्रकारसे उन्नति कर सकता है ।

इस प्रकार वेदमंत्रोंका आशय है । पाठक इसका बारंबार विचार करें और अपनी उन्नतिके लिये उपयोगी शोध करें । तथा प्राप्त शोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अभ्युदय और निधेयस् प्राप्तिके साधनमें सदा तत्पर रहें ।

इस लेखमें थोड़ेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविषयक उपदेश विशेष रीतिसे स्पष्ट है । परंतु इसके आतिरिक्त अन्य देवतानोंके स्तुतियोंमें गुप्त रीतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिये । ज्ञाता है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अभ्यास करके उक्त खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपको समर्पित करेंगे ।

स्वयं अनुभव करनेके बिना उक्त प्रकारकी खोज नहीं हो सकती इसलिए प्रथम प्राणायामकी साधन स्वयं करना चाहिये । जो सम्बन्ध प्राणायामका

साधन स्वयं करेंगे और तब श्रूमिकाओंमें जाकर वहाँका 'प्रत्यक्ष अनुभव' करेंगे, उनको ही वैदिक संकेतोंका उत्तम ज्ञान होना समझ है। इसीसे पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठानद्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक प्राणविद्याकी खोज करके पीछेसे जानेवाले सज्जनोंका मार्ग सुगम करें। हाथके थोड़े थोड़े प्रयत्नसे महान् कार्य सिद्ध हो सकता है। आशा है कि पाठक उत्साहके साथ अपूर्व प्रयत्न करेंगे।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है, वह ही उपनिषदोंमें बतलाई है। अध्यात्मविद्याके अनेक मंत्रोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य भाग है। वह सैसा वेदके मंत्रोंमें है वैसे उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है। इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सारांश रूपसे बताई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखना है।

प्राणकी श्रेष्ठता।

प्राण सब शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ शक्ति है, इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

प्राणो ग्रह्येति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येय खडिग्मानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जायन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभि सं विशन्तीनि॥

(सं० अ० ३।३)

“प्राणही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राणसे जीवित रहते हैं और अंतमें प्राणमें ही जाकर मिल जाते हैं।”

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है; प्राण सबसे बड़ी शक्ति है, सब अन्य शक्तियाँ प्राणपर ही अवलंबित रहती हैं; जबतक प्राण रहता है, तबतक अन्य शक्तियाँ रहती हैं। प्राण जाने लगा, तो अन्यशक्तियाँ प्रथम खली जाती हैं, और पश्चात् प्राण निकल जाता है। म देखकर प्राणियोंकोही प्राणकी

आधार है, परंतु औपधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ इन सबको भी प्राणशक्तिका ही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है, और दूसरी रयि हैं। हम विषयमें देखिये—

स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं च ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा ।

पतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

(प्रस ड० २

“परमेष्ठाने सबसे प्रथम स्त्री-पुरुषका एक जोड़ा उत्पन्न किया। उसमें एक प्राण है और दूसरी रयि है। जगत्में आदित्यही प्राण है, मार चंद्रमा तथा मूर्तिमान् जगत् दृश्य और अदृश्य पदार्थमात्र हैं, रयि है।”

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रयिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई, इसका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा, देखिये—

प्राण	रयि
आदित्य	चंद्रमा
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
Positive	Negative

जगत्के ये मातापिता हैं, इनसे सृष्टिभी उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण जगत्में इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रयि है। चारोंरमें सुदृग-प्राण प्राण है और अन्य स्थूल शरीर रयि है, देहमें सीधी बगल प्राण है और बाईं बगल रयि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रयि और प्राणशक्तियां व्यापक हैं, किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियां नहीं है, केसा नहीं है। सर्वत्र रहकर सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है; इसको देखनेसे प्राणही सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार सब जेवोंका देह प्राण है, इसलिये कहा है कि—

॥ १ ॥ कतम एको देव इति प्राण इति ॥ (बृ० ३।१।९)

‘एक देव कौनसा है ? प्राण है ।’ अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है । और देखिये—

प्राणो वाय ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ (छां० ५।१।१; बृ० ६।१।१)

‘‘प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है ।’’ सब अन्य देव इसके आधारे पर रहते हैं । तथा—

(१) प्राणो वै बलं सत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ (बृ० ५।१।४)

(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ (बृ० १।६।३)

(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ (बृ० २।१।२०)

(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ (बृ० १।२।६)

‘‘(१) प्राणही बल है, वह बल प्राणमें रहता है । (२) प्राणही अमृत है । (३) प्राणही सत्य है । (४) प्राणही यश और बल है ।’’ इस प्रकार प्राणका महत्त्व है । प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता ।

प्राण कहाँसे आता है ?

परमात्माने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व स्थलमें हो चुका है । परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणिमंडको कैसी होती है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रात्रिषु सनिधत्ते ॥ यद्वाक्षिणां यत्पृथीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वे प्रकारायति तेन सर्वान् प्राणान् रात्रिषु सनिधत्ते ॥६॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽभिषदयते ॥ तदेतद्व्याम्बुक्षम् ॥७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपंतम् ॥

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्यम् ।

सूर्य ॥८॥

(प्रश्न ४० ११६-८०)

“सूर्यका जव उदय होता है, तब सयही, दिशाओंमें, सूर्यकिरणोंके द्वारा प्राण रखा जाता है। इस प्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंके द्वाराही प्राण पहुँचता है। यह सूर्यही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है। यह सूर्य (विश्व-रूप) सब रूपका प्रकाशक, (हरिणं) भँधकारका हरण करनेवाला, (जात-वेदसं) घनोंका उपादक एक, भेद्य तेजसे युक्त, सैकड़ों प्रकारोंसे सहस्रों किणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजानोंका प्राण उदयको प्राप्त होता है।”

यह सूर्यका वर्णन बता रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके बिना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्यमालिकाका मूल प्राण यह सूर्य देरही है। इसी कारण वेदमंत्रोंमें वायु, आरोग्य, एक आदिके साथ सूर्यका सबंध वर्णन किया है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है इसका यही पता लग सकता है। जो लोग सदा भँधेरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यप्रकाशमें क़ादा नहीं करते, सूर्यक प्रकाशसे अपना आरोग्य नहीं संपादन करते हैं और अपने आरोग्यके लिये घों, हकीमों और डाक्टरोंक घर आते रहते हैं, विषरूप दवाइयाँ पीते हैं, उनकी अज्ञानताकी सीमा कहाँ है? परमात्माने अगर दयासे सूर्य और वायु उत्पन्न किया है और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। योग्य रीतिसे प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा, तो स्वभावतः ही आरोग्य मित्र सकता है। इसना सला आरोग्य होनेपर भी अनुभव ऐसी अवस्थातक आ पहुँच है कि अनंत संपत्तिका स्वयं करनेपर भी उनको आरोग्य नहीं प्राप्त होता। पाठको! देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता कितनी दूर गयी है। अस्तु। विश्वव्यापक प्राण प्राप्त होनेका माग इस प्रकार है ॥ यह प्राण सूर्यमें रोज़ दिन हुआ है, वहाँसे सूर्य-किरणोंद्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे स्त्र्ममें जाकर हमारा जीवन बढ़ाता है जो प्राणायाम करना चाहते हैं; उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इसी प्राणका और वर्णन देखिये—

देवोंका घमंड ।

एक समय ऐसा हुआ कि बाह्य सृष्टिमें पृथिवी, जल, तेज, वायु ये देव, तथा शरीरके अंदर वायु, मन, चक्षु और श्रोत्र ये देव समझने लगे कि हम ही हम जगत्को धाण करते हैं और हमारेसे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है । तब देवोंका यह गर्व देखकर प्राण कहने लगा कि, हे देवो ! ऐसा घमंड न कीजिए, मैं ही अपने आपको पांच विभागोंमें विभक्त करके, इसकी धाणा कर रहा हूँ । परंतु इस कथनको उन देवोंने माना नहीं, उस समय मुख्य प्राण वहाँसे हटने लगा, तब सब देव कांपने लगे । फिर जब प्राण जागया तब देव प्रसन्न हुए । इससे देवोंको पता लगा कि यह सब प्राणकी शक्ति है कि जिसके कारण हम कार्य कर रहे हैं । हमारी ही केवल शक्तिते हम इस कार्यको चलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं । ” इस प्रकार जब देवोंने प्राणकी महिमा विदित की, तब वे प्राणकी स्तुति करने लगे । यह स्तुति निम्न श्लोकोंमें है—

प्राण-स्तुति ।

एगोऽग्निस्तपत्येन सूर्य एव पर्जन्यो मघधानेव वायुरेव पृथि-
यो रयिर्देवः । सदसक्यामृतं च यत् ॥५॥ यथा इय रयनाभौ
प्राणे सर्वे प्रतिष्ठितम् । ऋचो यजूंष सामानि यद्वा । क्षत्र ब्रह्म
च ॥६॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे न्यभेय प्रतिजायसे । तुभ्यं
प्राणः प्रजासिऽयमा बलि हरन्ति यः प्राणोः प्रतितिष्ठति ॥७॥
देवानामांस यद्विनमः पितॄणां प्रथमा रुद्राणां चरितं
सत्यमथर्षाणिऽसामभि ॥८॥ इन्द्रस्यैव प्राणनेजसा रुद्राऽसि
परिरक्षिता । रुद्रमन्नरिक्षे चरसि सूर्यस्तत्र उपांनिषां पतिः ॥९॥
यद्वा स्वममिष्यैवैव्यरोमाः प्राणने प्रजाः ॥ आनंदरूपास्तिष्ठति
कामायात्रं भविष्यतीति ॥१०॥ आत्यस्त्यैव प्राणैरुक्कपिऽत्ता विश्व-
स्य सत्पतिः । एवमाद्यस्य दातारः पिता स्य मातरिभ्यनः ॥११॥

या ते तनूवाचि प्रातिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
 या च मनसि संतता शिवा तां कुरु मोक्षमाः ॥१२॥
 प्राणस्येदं वशे सर्वे त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । मानेव
 पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि इति ॥१३॥ (प्रम. उ. २) -

“यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इंद्र, पृथिवी, रवि आदि सब है ॥ जिस प्रकार रथमाभिमें आरे जुड़े होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुड़ा हुआ है ॥ ऋचा, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र और ज्ञान सबही प्राणके आधारसे हैं ॥ हे प्राण ! तू प्रजापति है और गर्भमें तूड़ी जाता है । सब प्रजायें तेरे लिये ही बली अर्पण करती हैं । तू देवोंका अष्ट संचालक और पिताओंकी स्वकीय धारणकर्त्तृ है । अथवा आंगिरस ऋषियोंका सत्य संपाचरण भी तेरा ही प्रभाव है । तू इंद्र, रुद्र, सूर्य है । तूही तेजसे तेजस्वी हो रहा है । जब तू वृष्टि करता है, तब सब प्रजायें आनंदित होती हैं, क्योंकि उनको बहुत अन्न इस वृष्टिसे प्राप्त होता है ॥ तूही वायु एक ऋषि और सब विश्वका स्वामी है, हम दाता हैं और तू हम सबका पिता है । जो तेरा शरीर, वाचा, चक्षु, श्रोत्र और मनमें है, उसको कल्याणरूप करो और हमारेसे दूर न हो । जो कुछ त्रिलोकीमें है वह सब प्राणके वशमें है । माताके समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रज्ञा हमें देओ ” ।

यह देवोंका बनाया प्राणसूक्त देखनेसे प्राणका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है । यह सूक्त कई दृष्टियोंसे विचार करनेयोग्य है । पृथिवी आदि जो इसमें कही हैं वह यह है कि चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियां शरीरमें तथा सूर्य चंद्र वायु आदि अणुमें देव हैं और ये सब प्राणके वशमें हैं । प्राणकी शक्ति इनके अंदर जाती है और इनके द्वारा कार्य करती है । जिस प्रकार प्राणकी शक्ति आंतमें जाकर आंतको देखनेके कार्य करनेके लिये समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है ।

इमलिये आँखकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति न आँख और सूर्यकी है प्रायुत प्राणकी है। इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना वचित है। देव'शब्द'जैसा शरीरमें इंद्रियवाचक है, उसी प्रकार जगत्में अग्नि वायु आदि देवताओंका भी वाचक है। पाठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करें।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है। इमलिये जो मज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं, वे उक्तसूक्तोंमें विद्यमान प्राणवाचका भी विचार करें। अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका 'प्राण' अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें। जो तुरन्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। देखिये—

प्राणरूप अग्नि ।

प्राणविद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है। इसका थोड़ासा स्पष्टीकरण देखिये —

(१) देवानां वह्नितम अस्ति । = प्राण “हृदिषोंको” चलानेवाला है, ‘सूर्यादिकोंको’ चलाता है, प्राणायामद्वारा “विद्वान्” उच्चाति प्राप्त करते हैं।

(२) पितृणां प्रथमा स्वधा अस्ति । = सपूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) अद्वय दजेंकी पालकशक्ति प्राण है और वह ही (स्वधा) आत्मत्वका धारणा करती है।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं अस्ति । = सप्त ऋषियोंका सत्य (चरित) पालचलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आत्मा, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सप्त ऋषी हैं, ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

(४) अथर्वानि रसां चरितं अस्ति । = (अथर्वा अगिरवां) स्थिर अंगोंक रसोंका (चरित) चलन अथवा भ्रमण प्राण ही करता है। प्राणके कारण पोटक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुँचकर सर्वत्र पुष्टि करता है।

इस प्रकारका भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है। प्रत्येक शब्दका आशय देखनेसे इसका पता लग सकता है। साधारण सूचना देनेके लिये यहां उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे देता हूँ — (१) अग्नि = गति देनेवाला, उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला, (२) सूर्य = प्ररणा करनेवाला, प्रकाश देनेवाला, (३) पर्जन्य (पर पन्थ) पूर्णता करनेवाला, (४) मघवान् = महत्त्वमें युक्त (५) वायु = हिलानेवाला और अग्नि दृष्टो दूर करनेवाला (६) शृविशी = विस्तृत, आघार देनेवाली, (७) रवि = तेज, शक्ति, शरीरशक्ति आदि, (८) देव = कोटा, विजिगीषा, व्यवहार, तज, आनन्द, हर्ष, निद्रा, उत्साह, स्फूर्ति आदि देनेवाला, दिव्य, (९) अमृत = अमरत्वमें युक्त, (१०) प्रजापति = चतुर् आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला, (११) वह्नितम = महत्तम

प्रेरक; (१२) इंद्रः ऐश्वर्यवान्, भेदन करनेवाला; (१३) रुद्रः = (स्त-
 ५ :) शब्दका प्रेरक; (२५-२६ :) दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४)
 घ्रात्यः = (घृत) नियमके अनुसार आचरण करनेवाला । इस प्रकार
 शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा, कि उक्त शब्दोंद्वारा प्राणही किस
 शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है । वैदिक शब्दोंके गूढ़ भाशय
 देखनेसेही वेदकी गंभीरता व्यक्त होती है । जाना है कि पाठक उक्त
 प्रकार उक्त सूक्तका विचार करेंगे ।

इस प्रकार प्राणकी मुख्यता और श्रेष्ठता है और वह प्राण सूर्यकिरणोंके
 द्वारा प्राणियोंतक पहुंचता है । प्राण सूर्यकिरणोंसे वायुमें जाता है, वायु
 आससे अंदर जाता है, उस समय वह मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है ।
 प्राणायामके समय इस प्रकार इस प्राणका महत्त्व ध्यानमें धरना चाहिए ।

प्राणका प्रेरक ।

केन उपनिषद्में प्राणके प्रेरकत्वका विचार किया है । प्राणके आधीन
 संपूर्ण जगत् है, तथापि प्राणको प्रेरणा देनेवाला कौन है ? जिस प्रकार
 दीवानके आधीन सब राज्य होता है, उसी प्रकार प्राणके आधीन सब
 इंद्रियादिकोंका राज्य है । परंतु राजाकी प्रेरणासे दीवान कार्य करता है,
 उस प्रकार यह प्राणका प्रेरक कौन है ? यह प्रश्नका तात्पर्य है ।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ॥ केन उ. १।१

“किससे नियुक्त होता हुआ प्राण चलता है ? ” अर्थात् प्राणकी प्रेरक
 शक्ति कौनसी है ? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि—

स उ प्राणस्य प्राणः ॥

(केन उ० १।२)

“वह आत्मा प्राणका प्राण है ” अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है ।
 इसका और वर्णन देखिये—

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते ।

तद्वय ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १।८)

“जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता, परंतु जिससे प्राणका जीवन होता है, वह (ब्रह्म) आत्मा है, ऐसा तुम समझ लो । यह नहीं कि जिसकी उपासना की जाती है । ”

अर्थात् आत्माकी शक्तिसे प्राण अपना सब कारोबार चला रहा है, इस-
‘लिये प्राणकी प्रेरक शक्ति आत्मा ही है । इस विषयमें ईशोपनिषद् का मंत्र
देखने योग्य है—

योऽनाद्यन्तं पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

(ईश. १६।)

योऽसाद्यदित्य पुरुषः सोऽनाद्यहम् ॥ (का० यशु० १०)

“जो यह (असी) असु अर्थात् प्राणके अंदर रहनेवाला पुरुष है, वह
‘मैं हूँ । ”

मैं आत्मा हूँ, मेरे चारों ओर प्राण विद्यमान है और मैं उसका प्रेरक
हूँ । मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और सब इंद्रियोंकी शक्तियोंको
उत्तेजित कर रहा है । इस प्रकार विश्वास रखना चाहिए भी । अपने प्रमा-
णका गौरव-देखना चाहिए । इस विषयमें दूसरेय उपनिषद् का यद्यन
देखिये—

नासिके निरभिधेतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाह्वायुः ॥

(ऐ० उ० १।१।४)

वायुः प्राणा भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥

(ऐ० उ० १।२।४)

“नासिकाके स्थानमें इंद्रिय हो गये, नासिकामें प्राण और प्राणमें
वायु हो गया । ” अर्थात् प्राणमें वायु हो गया । आत्माकी प्रवृत्ति इच्छा-

शक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद ले लूँ। इस इच्छाशक्तिसे नासिकाके स्थानमें दो छेद बन गये, ये ही नासिकाके दो छेद हैं। इस प्रकार नाक बनते ही प्राण हुआ और प्राणसे वायु बना है। आत्माकी इच्छाशक्ति कितनी प्रबल है इसकी कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है। इस प्रकार शरीरमें छेद करनेवाली शक्ति जो शरीरके अंदर रहती है वह ही आत्मा है। इसको इंद्र कहते हैं क्योंकि यह आत्मा (इंद्र) इस शरीरमें सुराज करनेकी शक्ति रखता है। इसकी प्रबल इच्छाशक्तिसे विलक्षण घटनायें यहां सिद्ध हो रही हैं, इसका अनुभव अपने शरीरमें ही देखा जा सकता है। जो ऐसा समर्थ जीवार्त्मा है, वह ही प्राणका प्रेरक है। इसका सेवक प्राण है, यह प्राण वायुका पुत्र है, क्योंकि ऊपर, दिये भद्रमें कहा है कि "वायु प्राण बनकर नाभिकामें प्रविष्ट हुआ है।" इसलिये यह प्राण वायुका पुत्र है। यही "मारुती" है, मारुतीका अर्थ 'मारु' अर्थात् वायुका पुत्र। विश्वमें व्यापनेवाला पवन वायु है, उसका एक अंश शरीरमें, नयत्तार, होता है, इसलिये इसको 'पवनारमज' कहते हैं। यही हनुमान्, मारुते, राम-सत्त्वा है। अवतारकी मूल कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है। विश्व-व्यापक शक्तियाँ अवताररूपसे कर्मभूमिमें अर्थात् हम देहमें आकर कार्य करती हैं। वायुके पुत्रोंकी जो कल्पना पौराणिक वाङ्मयमें है वह यही है। इसको चिरंजीव कहा है, इसका कारण हम लेखमें पूर्व स्थलमें बताया ही है। प्राणके अमरत्वके साथ इसका चिरंजीवत्व सिद्ध होना है। इस प्रकार यह हनुमानजीका रूपक है। इसका संपूर्ण वर्णन किमी अन्व स्थानमें किया जायगा। यहां संक्षेपमें सूचना मात्र लिखा है। अर्थात् हनुमानजीकी उपासना मूलमें प्राणोपासना ही है। यह "दशरथके राम" का सहायक है, दश इंद्रियोंके रथमें जो आनंदरूप आत्मा है, उसका यह प्राण नित्य सहायक ही है। तथा "दशमुखकी लंका" को जलानेवाला है। दश इंद्रियोंसे मुख्यतया भोगमें जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, इनका प्राणायामके अभ्याससे दहन होता है। इत्यादि विचारसे पूर्वोक्त कल्पना अधिक स्पष्ट

होगी। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त उपनिषद्में “प्राणका प्रेरक आत्मा” कहा है, और उक्त इतिहासमें “वायुपुत्रका प्रेरक दाशरथी राम” कहा है, दोनोंका तात्पर्य एकही है। सूत्र वाचक विचारके द्वारा इसके मूल भावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद्के वचनमें “असौ अहं” शब्द आये हैं। “प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा” यही भाव वृद्धारण्यकके निम्न वचनमें है—

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः

शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयति, एष त आत्मा अंतर्धाम्यमृतः ॥

(वृ. ३।७।१६)

“जो प्राणके अंदर रहता है, प्राणके अंदर रहनेपर भी जिसको (प्राणः न वेद) प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है, जो अंदरसे (प्राणं यमयति) प्राणका नियमन करता है, (एषः) यह तेरा अंतर्धामी अमर आत्मा है।”

प्राणके अंदर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है; इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ मिलसंबंध है, यह बात स्पष्ट होती है। ‘मैं आत्मा हूं’ प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर हैं। यह मेरा वैभव और साग्राम्य है। इसका मैं तथा सम्राट् बन्गा और विजयी तथा यशस्वी बन्गा, यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है। इस प्राणका वर्णन अन्य वचनोंमें हुआ है—

प्राणो वै रं प्राणे होमानि भूतानि रमन्ते (वृ. ५।१२।१)

प्राणो वा उक्थं प्राणे होदं सर्वमुत्थापयति ॥१॥

प्राणो वै यजुः प्राणे होमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते ॥२॥

प्राणो वै सामप्राणे होमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि ॥३॥

प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै श्रायते ॥४॥ (वृ. उ. ५।१३)

‘प्राण’ ‘र’ है, क्योंकि सब भूत प्राणमें रमते हैं। प्राण ‘उक्थ’ है

क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण 'यजु' है, क्योंकि प्राण में सब भूत संयुक्त होते हैं। प्राण 'साम' है, क्योंकि सब भूत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण 'क्षत्र' है, क्योंकि प्राणही क्षत्रों अर्थात् कष्टोंसे बचाता है। "

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। 'साम, यजु' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी यहाँ केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यही सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहाँ सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा, वहाँ उसका पौगंडिक अर्थ करना चाहिये और जहाँ विशेष रीतिसे प्रयोग होगा, वहाँ योग रुटिका अर्थ समझना चाहिये। इस प्रकार एकही शब्दके दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थरिपयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है। भाषा है कि पाठक इस व्यवस्थाको वेदमंत्रोंमें देखेंगे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्वकी है, इसलिये यहाँ लिखी है।

अंगोंका रस ।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है—

आंगिरसोऽगानां हि रसः, प्राणो वा अंगानां रसः ...

... तस्माद्यस्मात्कस्माच्चांगात् प्राण उत्क्रामति,

तदेव तच्छुष्यति ॥

(बृ० १।३।१९)

"प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है।"

गृहोंमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंगरसका महत्व है। जीवामाकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अंगमें धारोप्य और बल बढ़ाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा

आरोग्य संपादन कानेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढ़ानेमें उक्त सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है, प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छाशक्तिका नियमन होता है, इच्छासे कृत्तिमें परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये—

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे,
प्राणस्तेजोऽग्नि, तेजः परस्यादेवतायाम् ॥ (छां० उ० ६।८।६)

“पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें संलग्न होता है।” यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यही आत्मा है प्राणविद्याकी परम सिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियाँ।

प्राणके आधीन अनेक शक्तियाँ हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये—

प्राणो वायु संवहः। स यदा स्वपिति, प्राणमेव
वागप्येति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्र, प्राणं मनः, प्राणो
होर्वतान् संवृष्टं ॥१॥ (छां० ४।१।३)

“जब यह सोता है तब वायु, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणमें ही लीन होती है, क्योंकि प्राणही इनका संवहारक है।”

जिस प्रकार सूर्य उगनेके समय उसकी किरण फैलती हैं और अम्लके समय फिर अंदर लीन होती हैं, इसी प्रकार प्राणरूपी सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है, उस समय उसकी किरण इंद्रियादिकोंमें फैलती हैं और निद्राके समय फिर उसीमें लीन होती हैं। इस प्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका सादृश्य एक अंगमें है यह बात मूलना नहीं चाहिये। सूर्यके समान प्राणका भी कभी अम्ल नहीं होता, परंतु अम्ल और

उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग ।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रयस्रो, दिशं दिशं पतित्वा, अन्य-
त्रायतनमलब्ध्वा, बन्धनमेषोपश्रयत, एवमेव खलु, सांम्य,
तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेषोप-
श्रयते, प्राणबन्धन हि सांम्य मनः ॥

(छा० उ० ६।८।२)

“जिस प्रकार पतंग, बोरीमें बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें घूमकर, दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण, अपने मूठ स्थानपरही आजाता है; इसी प्रकार निश्चयसे, हे प्रिय शिष्य! वह मन अनेक दिशाओंमें घूम घाम कर, दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलनेके कारण, प्राणकाही आश्रय करता है, क्योंकि, हे प्रिय शिष्य ! मन प्राणके साथही बंधा है । ”

इस प्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है । यही कारण है कि प्राणायामसे प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है, प्राणका निरोध होनेसे मनका संयम होता है । प्राणकी चंचलतासे मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर होता है । इससे प्राणायामका महत्त्व और उसका मनके संयमके साथ संबंध विदित हो सकता है ।

प्राणसे मनका संयम होनेके कारण अन्य इंद्रिया भी प्राणके निरोधसे स्वाधीन होती हैं, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे मनका संयम और मनके यत्न होनेसे अन्य इंद्रियोंका यत्न होना स्वाभाविक ही है । इस प्रकार प्राणायामसे संपूर्ण शक्तियां वशीभूत होती हैं । यही भाव निम्न वचनमें गुप्त रीतिसे है —

वसु-रुद्र-आदित्य ।

प्राणा वाय वसव एते होदं सर्वं वासयन्ति ॥१॥

प्राणा वाय रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥२॥

प्राणा वाचादित्याः एते हीदं सर्वमावदते ॥३॥

(छां० उ० ३।१९)

“प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको धसाते हैं । प्राण रुद्र हैं, क्योंकि इनके चले जानेसे सब रोते हैं । प्राण आदित्य हैं, क्योंकि ये सबको स्वीकारते हैं । ”

इस स्थानपर “प्राणा वाय रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदयन्ति वासयन्ति ” अर्थात् “प्राण रुद्र हैं, क्योंकि ये इस सब दुःखको दूर करते हैं । ” ऐसा वाक्य होता तो प्राणका दुःखनिवारक कार्य व्यक्त हो सकता था । परंतु उपनिषद्में “एते हीदं सर्वं रोदयन्ति । ” अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं, तब ये सबको रुलाते हैं । इतना प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, ऐसा लिखा है । शतपथादिमें भी रुद्रका रोदनधर्मही वर्णन किया है, परंतु दुःखनिवारक धर्म भी उनमें उससे अधिक प्रबल है । इसका पाठक विचार करें । इस प्रकार प्राणका महत्त्व होनेसे ही कहा है—

प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता,

प्राणः स्वस्ता, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥ (छां० उ० ७।१५।१)

“प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण आदि हैं । ” ये शब्द प्राणका महत्त्व बता रहे हैं— (१) माता-मान्य दित करनेवाली; (२) पिता-पालक, संरक्षक; (३) भ्राता-भरण पोषण करनेवाला; (४) स्वस्ता-(सु असा) उत्तम प्रकार रखनेवाला (५) आचार्य-आमिक्त गुरु है, क्योंकि प्राणके आयामसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये; (६) ब्राह्मणः- यह प्रसङ्गके पास से जानेवाला है ।

ये शब्दोंके मूलभाव यहाँ प्राणके गुण बता रहे हैं। यह प्राणवर्णन है। इतना प्राणका महत्त्व है, इसलिये अपने प्राणके विषयमें कोई भी उदासीन न रहे। सब लोग स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वह स्वर्ग प्राणही है। देखिये —

तीन लोक ।

वागेवायं लोको मनो अंतरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः॥

(यू० १।५।४)

“पाणी यह पृथ्वीलोक है, मन अंतरिक्षलोक है और प्राण ही स्वर्गलोक है।”

इसलिये प्राणायामके अभ्याससे स्वर्गप्राप्तकी प्राप्ति होती है देखिये प्राणकी कितनी श्रेष्ठता है !! इस प्रकार उपनिषदोंमें प्राणविद्या है। जब विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं है। संक्षेपसे आवश्यक बातोंका उल्लेख यहाँ किया है। इससे उपनिषदों की प्राण विद्याकी कल्पना हो सकती है। जो पाठक इसकी और अधिक गहराई देखना चाहते हैं, वे स्वयं उपनिषदोंमेंही इसकी देख सकते हैं। जाना है कि पाठक हम प्रकार इस विद्याका अभ्यास करेंगे।

प्राणायामसे बहुत प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, येमा प्राणके विभिन्न शास्त्रोंमें लिखा है। प्राणायामका अभ्यास करनेमेंही उच्च शक्तियोंकी प्राप्ति होना संभव है। अभ्यास के बिना उन्नति की प्राप्ति सर्वथाई असंभव है। प्राणायामका अभ्यास करनेके लिये प्राग्गी शक्तिही कल्पना प्रथम होनेकी आवश्यकता है। यह कार्य भिन्न होनेके लिये इस पुस्तकके उपयोग हो सकता है। हम पुस्तकके अपनी प्रकार पढ़नेके पथार्थ मनन-द्वारा अपनी प्राणशक्तिको आकतन करना चाहेंगे। अपने प्राणका यह स्वप्न है, उसका यह महत्त्व है और हमकी उपामनामें इस प्रकार साम

हो सकता है, इत्यादि विषयकी उत्तम कल्पना इस पुस्तकके अभ्याससे होगी। इतनी कल्पना इड होनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। इस प्राणायामके अनुष्ठानका प्रकार विस्तारपूर्वक उत्तरार्धमें लिखा है। इसके अभ्यासके पश्चात् पाठक उस पुस्तकको अवश्य पढ़ें और उस प्रकार अनुष्ठान करके अपनी उन्नतिका साधन करें।

व्यक्तिमें शांति,

जनतामें शांति और

जगत्में शांति



वैदिक चिकित्सा

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
वैदिक चिकित्सा ।	३
(१) दिव्य वैद्य ।	५
(२) ऋग्वि चिकित्सा	८
(३) तत्त्व चिकित्सा	१२
(४) अग्नि चिकित्सा	१३
(५) इन्द्र चिकित्सा	१४
(६) सौम्य चिकित्सा	१६
(७) वायु चिकित्सा	१७
(८) मानस चिकित्सा	१८
वेदों में वैद्यशास्त्र	२७
रिषयों की विधि	३२
इन्द्र की विधि	३३
अग्नि की विधि	३३
वायु की विधि	३७
सौम्य की विधि	४५
इन्द्र की विधि	६१
सौम्य की विधि	६८
इन्द्र की विधि तथा कामिनी-गोमती चिकित्सा	७०

वर्णचिकित्सा	७६
सूर्य किरण चिकित्सा	७७
परिधाःण विधि	७८
रूप और बल	७९
रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा	८१
पथ्य	७४
वैदिक-प्राण-विद्या	७५
अवैतनिक महावीरोंका स्वागत	७६
वैदिक प्राणविद्या	७७
हृंधर सबका प्राण है	७८
अन्तरिक्षस्थ प्राण	७९
प्राणका कार्य	८०
वैयक्तिक प्राण	८१
प्राणका औपाधि गुण	८२
संवरक्षक प्राण	८३
प्राणकी उपासना	८४
सत्यसे बलप्राप्ति	८५
सूर्यचन्द्रमें प्राण	८६
धान्यमें प्राण	८७
प्राणसे पुनर्जन्म	८८
अथर्व चिकित्सा	८९
प्राणकी धृष्टि	९०
पिता-पुत्र संबंध	९१
हंस	९२
नमन और प्रार्थना	९३

प्राणसूक्तका सारांश	९८
ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश	९९
यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश	१००
प्राणकी वृद्धि	१०१
गायन और प्राणनिरित	१०२
प्राणकी प्रवृत्ति	१०३
सकर्म और प्राण	१०४
प्राणदाना अग्नि	१०५
प्राणके साथ हृदिस्थोक्ता विकास	१०६
विषयवारक प्राण	१०७
छन्दोगाद्या प्राण	१०८
सामवेदमें प्राण	१०९
भोजन और प्राण	११०
सहस्राक्ष अग्नि	१११
अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश	११२
यै विप्रवी हूँ	११३
देवमुतासादि	११४

यमके दूत	१२७
अथर्वाङ्ग सिर	१२९
ब्रह्मलोककी प्राप्ति	१३१
देवोंका कोश	११
ब्रह्मकी नगरी	१३२
अयोध्या नगरी	१३३
अयोध्याका राम	१३४
उपनिषद्में प्राण विद्या	१३९
प्राणका श्रुति	१३१
प्राण कहाँ आता है ?	१४१
देवोंका घमंड	१४३
प्राण स्तुति	११
प्राणरूप अग्नि	१४५
प्राणका मेरु	१४७
अगोका राम	१५१
प्राण और अन्य शक्तियाँ	१५२
पतंग	१५३
यसु रत्न आदित्य	१५४
तीन छात्र	१५५